निवेदन

पाठकों को 'अल्पता की समस्या' नामक पुस्तक की भेंट मैं एक विनम्र निवेदन के साथ करना चाहता हूँ। इसे समय-समय पर विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित लेखों का एक संग्रह-मात्र आप न समझें। वास्तव में बात यह है कि इस प्रस्तावित पुस्तक के समय-समय पर लिखे गये अध्यायों को, देश की बदलती हुई स्थिति के तक़ाज़े को तत्काल पूरा करने की नीयत से लेखों के रूप में प्रकाशित करा देना मैंने उचित समझा। इससे दो लाभ हुए: पहला तो यह कि इस समस्या के जुदा जुदा पहलुओं पर यथोचित सामग्री समय के अनुरूप जल्द से जल्द पाठकों की सेवा में मैं लेकर हाज़िर हो सका। इसके कारण, मुझे ऐसी सूचना मिली है, इस प्रश्न के महत्त्व और गुत्थी के सुलझाने के समुचित साधनों की ओर लोगों का ध्यान आसानी से आकर्षित हो सका। यदि पूरे ग्रंथ की समाप्ति ही पर यह मसाला उन्हें उपलब्ध होता, तो उन्हें इसके लिए बहुत काफ़ी समय तक इन्तज़ार करना पड़ता; क्योंकि सार्वजनिक कार्यों में व्यस्त रहने के कारण बहुत काल तक मेरे लिए यह असंभव था कि मैं इस पुस्तक को कम से कम समय में समाप्त कर डालूँ। यह तो एक लाभ है कि पाठकों को ज्ञातव्य बातें समय से मालूम होती गईं। लेकिन मुझे भी इन अध्यायों के क्रम-गत प्रकाशन से कुछ कम लाभ नहीं हुआ। लेखों के रूप में प्रकाशित होने के कारण अध्यायों के लिखने में मुझसे जो कुछ भूल-चूक हुई थी, उसको सुधारने का मुझे एक बार फिर अवसर मिल गया। समालोचकों की सम्मति से भी इसी के कारण फ़ायदा उठाने का मुझे अवसर भी प्राप्त हुआ। विषय की महत्ता, उसकी सार्वजनिक उपयोगिता, अपने दृष्टिकोण और विषय-विवेचन की शैली के विषय में पाठकों की प्रतिक्रियाओं को जानने और उस ज्ञान की सहायता से अध्यायों को दुहराने और शोधने में मुझे जो कुछ सुगमता हुई है, उसके लिए मैं पाठकों और आलोचकों का चिरकाल तक ऋणी रहूँगा।

'सरस्वती', 'देशदूत', 'हल' और 'सुधा' के सम्मानित संपादकों का मैं

समर्पण

भारती

की

उस स्नेहमयी ज्योति को

जिसके

एक स्फुलिंग के स्पर्शमात्र से

मेरी मूक लेखनी मुखरित हो उठती है।

"जदि अपने करम करि तरौंगो,

देवि !

तौ हौंहीं करतार, तुम करतार काहे को।"

—लेखक

विषय-सूची

अल्पता की समस्या

हमारे सूबे ही में क्या किन्तु सारे भारत में इस समय अल्पता की समस्या के सामने और सब समस्यायें तुच्छ और नगण्य-सी हो गई हैं। हिन्दू, ईसाई और सिक्ख—इन सम्प्रदायों के अनुयायियों ने अपने-अपने धार्मिक विभेदों के बल पर राजनीतिक क्षेत्रों में विशेष अधिकारों की जो माँगें पेश की हैं, वे भारत के इतिहास में कोई नई बात नहीं। हिन्दुओं में सवर्ण और अवर्ण तथा ब्राह्मण, क्षत्रिय, जाट और अहीर आदिक विभिन्न जातियाँ धारा-सभाओं में प्रतिनिधित्व और सरकारी नौकरियों में समुचित हिस्सा पाने के लिए सतर्क और सचेष्ट हैं। अँगरेज़ी अमलदारी ने जहाँ भारतवर्ष में राजनीतिक एकता की प्रवृत्ति को पुनर्जन्म दिया, वहाँ अँगरेज़ी शासकों ने एक राष्ट्र के उद्‌भव और विकास में जाति-विशिष्टताओं को प्रोत्साहन देकर अड़ंगा भी लगाया। अँगरेज़ी शासक सदैव इस लांछन का ज़ोरों के साथ प्रतिकार करते आये हैं। उनकी ऐसी इच्छा रही हो या न रही हो, लेकिन उन्होंने समय-समय पर जिन-जिन नीतियों का अवलम्बन किया, उनका परिणाम यह अवश्य होता गया कि भारतीय समाज एकता की ओर उतनी शीघ्रता के साथ बढ़ने में समर्थ न हो सका जितनी शीघ्रता से वह अँगरेज़ी शासन-काल में बढ़ सका था। भारत के सेवकों के सामने मौजूदा परिस्थिति में यह सवाल नहीं है कि अँगरेज़ी शासकों की राजनीतिक चालों के कारण राष्ट्रीयता का विकास रुका या उसमें बाधा पड़ी, किन्तु उसके सामने तो इस समय प्रश्न यह है कि अभी तक जो बाधायें हमारे मार्ग में थीं, उनको किस तरह दबाकर हम भारतीय राष्ट्रीयता के भाव को सबल और देशव्यापी बना सकते हैं। हमारा तो यही ध्येय है; और जब तक इस ध्येय की सिद्धि न होगी तब तक न तो हम आज़ाद हो सकते हैं और न आज़ादी पा जाने पर भी उसकी रक्षा करने में हम समर्थ ही हो सकते हैं।

इसीलिए अल्पता का प्रश्न सब प्रश्नों से अधिक महत्त्व का है। इसके ऊपर शान्तिपूर्वक मनन करना और इस अल्पता की गुत्थी को सुलझाना हम सबका परम धर्म है।

कांग्रेस के ऊपर तो इस मसले को हल करने की सबसे बड़ी ज़िम्मेदारी है। देश में यही एक राष्ट्रीय संस्था है। इसकी दृष्टि में हिन्दुस्तान के सब निवासी—वे चाहे जिस जाति, वर्ण या सम्प्रदाय के क्यों न हों—समान हैं। सबके स्वत्वों, हितों और अधिकारों की रक्षा करना इसका धर्म है। यह उन्हीं नीतियों का समर्थन करने के लिए बाध्य है, जिनसे सबका समान हित हो। राजनीतिक, सामाजिक या साम्पत्तिक शोषण और आधिपत्य का विरोध इसके आन्दोलन की जड़ में है। इसी बुनियाद पर हम स्वराज्य-मन्दिर का निर्माण करना चाहते

आधार पर किया जाता है। योरप में जाति-विभेद के आधार पर किसी समुदाय-विशेष को, किसी दूसरे समुदाय-विशेष की तुलना में, अल्पसंख्यक समुदाय मानते हैं। चैकोस्लोवाकिया में जर्मन्स, पोल्स और हंगेरियन्स अल्पसंख्यक थे; लेकिन उनके अल्पता की कसौटी जाति-भेद थी, न कि धार्मिक भेद। जर्मनी में अनेक सम्प्रदाय हैं। रोमन कैथलिक्स वहाँ पर अल्पसंख्यक हैं; लेकिन जर्मनी के अन्दर रोमन कैथलिकों को कोई अल्पसंख्यक समुदाय-विशेष नहीं मानेगा। जर्मनी के सब जर्मन्स जर्मन्स हैं, चाहे वे इस सम्प्रदाय के माननेवाले हों, चाहे उस सम्प्रदाय के। साम्प्रदायिक भेद पर नहीं, किन्तु जाति-भेद पर योरोप में अल्पता मानी जाती है।

दुर्भाग्यवश हिन्दुस्तान में अँगरेज़-शासकों ने अल्पता का अर्थ ही दूसरा लगाया। उन्होंने जाति-भेद नहीं, किन्तु सम्प्रदाय-भेद के आधार पर हिन्दुस्तान के निवासियों को बहुसंख्यक और अल्पसंख्यक की पदवी दे डाली। यही कारण है कि आज हिन्दुस्तान के मुसलमान अपने को हिन्दुस्तान के हिन्दुओं से एक भिन्न जाति का कहते हैं। वास्तव में यह बात ठीक नहीं है। बङ्गाल के हिन्दू और मुसलमान जाति की दृष्टि से एक हैं, यद्यपि दोनों भिन्न-भिन्न मज़हब के माननेवाले हैं। दोनों के रहन-सहन, बोल-चाल और मानसिक तथा नैतिक प्रतिक्रियाओं के व्यापार और सांस्कृतिक बुनियादों में समानता है। सिन्ध के मुसलमानों और बङ्गाल के मुसलमानों में कोई समानता नहीं। लेकिन हिन्दुस्तान के राजनीतिक गोरखधन्धे में अँगरेज़-शासकों की चाल चल गई और प्रान्तिक भेद के साथ-साथ धार्मिक भेदों के आधार पर राष्ट्रीय एकता मिटाने के लिए द्वन्द्व मच गया। न केवल मुसलमानों ही में यह धारणा फैल गई कि उनकी जाति हिन्दुओं की जाति से भिन्न है, किन्तु हिन्दुस्तान के लेखकों और कार्य-कर्त्ताओं ने भी उनके इस दावे को ज्ञात या अज्ञात रूप से स्वीकार कर लिया; लेकिन है यह केवल हमारा मानसिक भ्रम।

जर्मनी वग़ैरह में अगर हमारे मुसलमान भाई धर्म-भेद के आधार पर विशेष प्रतिनिधित्व या अधिकारों की माँग पेश करें तो न तो जर्मनी के जर्मन्स और न योरोप के किसी और देशवाले इनकी इस माँग को ठीक समझेंगे। लेकिन मिस्टर जिन्ना करांची में होनेवाले मुस्लिम लीग के अधिवेशन में हिन्दुस्तान के

हिन्दू	=	८,४६४
मुसलमान	=	१,४८४
ईसाई	=	४२
अन्य	=	१०
कुल जोड़	=	१०,०००

हिन्दुओं में हरिजनों या शेड्यूल्ड कास्ट के लोगों की संख्या भी शामिल है। ये लोग सूबे में लगभग २२ प्रतिशत हैं। इस सूबे में विदेशियों की या विदेश से आये हुए प्रवासियों की संख्या बहुत ही थोड़ी है। ऐसे लोगों में पारसी, योरपियन, सिक्ख, ईरानी और यहूदी शामिल हैं। लेकिन इन विदेशियों या प्रवासियों की संख्या इतनी थोड़ी है कि वह नगण्य के बराबर है। इनको छोड़कर, बाक़ी जनता जातीय दृष्टि से एक है। सम्प्रदायविषयक विभिन्नता के आधार पर विभिन्न सम्प्रदायवालों को विभिन्न जातियाँ कहना सरासर भूल है। मुझे मालूम है कि ईसाइयों के भी कुछ नासमझ और नादान नेता, कुछ मुसलमान-नेताओं की देखादेखी, यह दावा करने लगे हैं कि ईसाई हिन्दू या मुसलमानों से भिन्न हैं—भिन्न हैं न केवल धार्मिक मामलों में, किन्तु भिन्न हैं जाति में भी! मुझे खेद है कि इस सूबे में पढ़े-लिखे लोग और खुद सम्मानित सम्पादक-गण भी अल्पता के मसले पर लिखते हुए इन राजनीतिक भूलों के प्रचार में अज्ञात रूप से सहायक हो रहे हैं। वे अल्पसंख्यक सम्प्रदाय न लिख-कर अल्पसंख्यक जाति लिखते हैं। मैं फिर कहता हूँ कि इस सूबे में कई जाति के लोग नहीं बसते। इस सूबे में एक ही जाति के लोग हैं। मिश्रित जाति के हैं, वर्णसंकरी जाति के हैं। न कोई विशुद्ध अरबी है, न कोई ईरानी है और न कोई आर्य है। सबमें अनेक जातियों का ख़ून मिला हुआ है। युगों के हेर-फेर के साथ-साथ भौगोलिक, सामाजिक और राजनीतिक परिस्थितियों ने विभिन्न जातियों के लोगों को एक शक्ल और एक रंग का बना दिया। इस जातीय सत्य से लोग कितना ही क्यों न भड़कें, लेकिन इसका मिटाना उतना ही असंभव है जितना हथेलियों की रेखाओं को मिटा देना। इन भेद-भावों के मसले को उठाकर हिन्दुओं, ईसाइयों और मुसलमानों के राजनीतिक स्वत्वों को कुछ लाभ भले ही पहुँचे, लेकिन इनमें से हर एक को यह याद रखना चाहिए

कि युक्तप्रान्त के बाहर इनके लिए न स्थान है और न इस बिना पर सौदे की कोई सम्भावना है। हमारे मुसलमान अफ़ग़ानिस्तान, ईरान या अरब में जाकर देख सकते हैं कि मुसलमान होने के नाते उनका वहाँ स्वागत नहीं होगा। वहाँ वे हिन्दी कहलायेंगे और हिन्दी होने की वजह से उनका वहाँ पर उसी तरह अनादर होगा, जिस तरह आज हिन्दुस्तान के पराधीन होने की वजह से हमारा अनादर हो रहा है। बंगाल के मुसलमानों का साम्पत्तिक हित युक्तप्रांत के मुसलमानों के साम्पत्तिक हित से मेल नहीं खाता। जूट के ऊपर जो निर्यात-टैक्स लगा है, उसकी आमदनी के अंश के मिल जाने से बंगाल के मुसलमानों को फ़ायदा भले ही पहुँचे, लेकिन युक्तप्रांत के हिन्दू और मुसलमान किसानों को उससे कोई लाभ नहीं मिला। लाभ का जो कुछ अंश भारतीय गवर्नमेंट ने छोड़ा, वह बंगाल के लिए छोड़ा। युक्तप्रांत और बिहार में शक्कर-मिल-नियंत्रण-सम्बन्धी क़ानून बनने के कारण इन दोनों सूबों के हिन्दू और मुसलमानों को जो फ़ायदा हुआ, उस फ़ायदे से सिन्ध, पंजाब या मद्रास के मुसलमान या हिन्दू कृषकों को कोई लाभ नहीं पहुँचा। भिन्न सूबे के भिन्न साम्पत्तिक हित हैं। प्रत्येक सूबे की अलग-अलग राजनीतिक और साम्पत्तिक समस्यायें हैं। उन समस्याओं का समाधान साम्प्रदायिक भेद पर नहीं हो सकता। उनका निर्णय तो होगा सूबे के सार्वजनिक हितों की दृष्टि से।

इस विषय पर विचार करते समय लोग प्रायः एक और भी भूल किया करते हैं, और वह भूल यह है कि यू० पी० के मुसलमानों को लाभ पहुँच सकता, यदि बंगाल के या पंजाब के मुसलमान वहाँ के अल्पसंख्यक सम्प्रदायों के साथ अनादर का व्यवहार करें। यदि यू० पी० के मुसलमान, मान लीजिए, तालीम में पिछड़े रहें और बंगाल और पंजाब के मुसलमान बहुत आगे बढ़ जायें तो यू० पी० के मुसलमानों को कोई फ़ायदा न होगा। वैसे ही, जैसे यू० पी० के हिन्दुओं को कोई फ़ायदा न होगा, यदि बम्बई और मद्रास के हिन्दू आगे बढ़ जायँ और ये पीछे ही पड़े रहें। प्रान्तगत परिस्थितियों से भेद होगा और भेद हो सकता है। प्रान्त की उन्नति या अवनति पर उन सबकी उन्नति और अवनति निर्भर है जो प्रान्त में रहते हैं—धार्मिक मत उनके चाहे एक या अनेक भले ही हों।

तीसरी बात जिस पर मैं यहाँ पर ज़ोर देना चाहता हूँ यह है कि जो लोग आजकल हिन्दुस्तान में या हिन्दुस्तान के किसी सूबे में सम्प्रदाय-भेद के आधार पर राजनीतियों का निर्माण करना चाहते हैं, वे समय के प्रवाह के प्रतिकूल तैरने की चेष्टा कर रहे हैं। अब युग है अन्तर्राष्ट्रीयता का या भीषण राष्ट्रीयता का। योरप में आजकल राष्ट्रीयता का भीषण तूफ़ान उठ रहा है। योरप का मानचित्र इसी राष्ट्रीयता के संघर्ष के कारण द्रुतगति से बदल रहा है। कल का चित्र आज नहीं और आज का चित्र कल न रहेगा। लेकिन वहाँ पर समय के उलट-फेर से साम्प्रदायिक भेद का न केवल नाश हो गया है, बल्कि राष्ट्रीयता के पीछे जातीय भेद-भाव की प्रबल भावना काम कर रही है। हिन्दुस्तान में कई लोग उलटी गङ्गा बहाने की चेष्टा कर रहे हैं। दुख के साथ कहना पड़ता है कि इन भूले हुए लोगों में मिस्टर जिन्ना की गणना भी हमको करनी पड़ती है। किसी समय इन्हें किसी ने मुस्लिम गोखले का पद दिया था। किसको मालूम था कि इस पद में एक भविष्यवाणी छिपी हुई है? गोखले के पास जो कुछ था, उसे उन्होंने राष्ट्रीयता की वेदी पर अर्पित कर दिया। लेकिन दुर्भाग्य से मि० जिन्ना गोखले तो न सिद्ध हुए; वे गोखले के दिखाये हुए पथ पर भी अधिक दिनों तक नहीं चल सके। जो कुछ देश के लिए इन्हें देना चाहिए था, उसे इन्होंने देश में आपसी भेद-भाव फैलाने में लगा दिया। मि० जिन्ना केवल मुसलमान रह गये, गोखले न हुए। मुसलमानों को भी एक नहीं कर सके, उनमें भी इनकी नीति से वे भेद पैदा हो गये जो पहले नहीं मौजूद थे। यही हाल हमारे आदरणीय स्वर्गवासी मौलाना शौकतअली का भी था। क्या यह दुःख की बात नहीं कि एक मुसलमान को देश के भाइयों से विरोध हो। हर विदेश के तो वे मित्र हो सकते हैं, लेकिन अपने देशवासियों के वे शत्रु ही हैं। यहाँ पर यह साफ़ कह देना अनुचित न होगा कि ऐसे बहुसंख्यक मुसलमान आज दिन भी हमारे बीच मौजूद हैं, जो हिन्दुस्तान को पहला और दूसरे मुल्कों को दूसरा स्थान देते हैं। वे मुस्लिम होते हुए भी मुल्क-परस्त हैं; फ़िरक़ापरस्ती से उन्हें कोई सरोकार नहीं। आज़ादी की लड़ाई में अरबिस्तान, तुर्किस्तान और ईरान के प्रति तो लीगी मुस्लिमों की सहानुभूति है; लेकिन इसका तो यह अर्थ न होना चाहिए कि हम ग़ैरों का तो भले ही साथ दें, परन्तु अपने मुल्क को आज़ाद

करने के लिए जो लोग मैदान में उतर आये हैं उनका साथ न दें। परन्तु साथ देना तो दूर रहा; उलटे उनका विरोध करें।

मुस्लिम लीग मुल्क को आज़ाद करने में सदा से उदासीन चली आई है और अपनी इस उदासीनता का दोष मढ़ती है हिन्दुओं के सिर। अगर हिन्दुस्तान के मुसलमान फ़िलस्तीन के अरबों के प्रति सहानुभूति करते हैं तो यह एक स्वाभाविक बात है, क्योंकि संसार के सभी आज़ादी के पुजारियों के लिए फ़िलस्तीन के अरबों के साथ हमदर्दी करना लाज़िमी है। इसलिए नहीं कि वहाँ के अरब मुसलमान हैं, बल्कि इसलिए कि वे आज़ादी के लिए लड़ रहे हैं। संसार में जहाँ कहीं भी कोई परतन्त्र और पददलित जाति आज़ाद होने की चेष्टा में लगी हो, उसके साथ हम भारतीय ग़ुलामों की सहानुभूति का होना स्वाभाविक है। परन्तु इस सम्बन्ध में यह याद रखना ज़रूरी है कि फ़िलस्तीन में मुसलमानों और ईसाइयों में संघर्ष नहीं है; वहाँ संघर्ष है अरब जाति और यहूदी जाति के बीच में। फ़िलस्तीन में जातिगत संघर्ष है; साम्प्रदायिक संघर्ष नहीं। यह भी याद रखने की बात है कि फ़िलस्तीन के अरबों में जहाँ मुसलमान हैं, वहाँ ईसाई भी हैं! हिन्दुस्तान के मुसलमान अरबों के साथ तो सहानुभूति प्रकट करें, लेकिन हिन्दुस्तान के राष्ट्रीय संग्राम में जयचन्दी खेल खेलें—यह दुख की बात है। क्या अरबों के साथ उन्हें हमदर्दी महज़ इसलिए है कि बहुसंख्यक अरब मुस्लिम हैं? क्या उन्हें सिर्फ़ मुस्लिमों की ग़ुलामी को देखकर पीड़ा पहुँचती है! क्या ग़ैर मुस्लिमों की दशा में सुधार की कुछ भी चिन्ता उन्हें नहीं है?

ख़िलाफ़त के मसले के साथ हिन्दुस्तानी मुसलमानों को काफ़ी हमदर्दी थी। अपने मुसलमान भाइयों की इस हमदर्दी को हिन्दुस्तान में रहनेवाले हिन्दुओं ने अपनाया; और न सिर्फ़ अपनाया ही बल्कि उसके लिए उन्होंने सब तरह का त्याग भी किया। लेकिन तुर्किस्तान ने ख़ुद ख़िलाफ़त का अन्त कर दिया। तुर्कों ने हिन्दुस्तान के मुसलमानों की रत्ती भर भी परवाह न की। इन हिन्दी मुसलमानों की तुर्किस्तान के मुसलमानों को क्या परवाह थी? उन्होंने जो कुछ किया, अपने मुल्क की बेहबूदी के लिए किया। वे लोग फ़ज़ूल की बातों में नहीं फँसे, महज़ हिन्दुस्तान के मुसलमानों को ख़ुश करने के लिए। इसी तरह से इब्न सऊद ने हिन्दुस्तान के मुसलमानों को मक्का में होनेवाली कान्फ्रेंस में फटकार

दिया। अरब के वहाबियों ने उन बातों को अपनाया, जो उनके मुल्क की बेह-बूदी के लिए थीं। हिन्दुस्तान के मुसलमानों की बातें उन्होंने सुनी-अनसुनी कर दीं। सुनी-अनसुनी इसलिए कर दीं, क्योंकि मुसलमान होते हुए भी वे राष्ट्रवादी थे। अपनी जाति और अपने मुल्क की रक्षा करना उन्होंने अपना परम धर्म समझा। उन्होंने कभी इस बात को स्वीकार नहीं किया कि संसार के सब मुसल-मान एक हैं या सब मुसलमानों के हित समान हैं। ईरान, तुर्किस्तान, अरब, अफ़-ग़ानिस्तान और मिस्र इस बात के प्रबल प्रमाण हैं कि मज़हबी समानता के आधार पर नहीं, किन्तु जातीय हितों के आधार पर राष्ट्र और जाति का संगठन संभव है।

यही हाल ईसाइयों का है। योरप में सब प्रायः ईसाई हैं। लेकिन समान मतावलम्बी होते हुए भिन्न-भिन्न देशों के ईसाइयों में राजनीतिक और साम्पत्तिक हितों में विरोध के कारण भयंकर संघर्ष है; और इस संघर्ष की बदौलत योरप में आजकल जो बेचैनी फैल रही है, वह किसी से छिपी नहीं है।

चीन में जापानी आक्रमणों के कारण राष्ट्रीय एकता की जो लहर फैल गई है, वह बीसवीं सदी की एक आश्चर्यजनक घटना है। चीन के कुछ मुस्लिम प्रतिनिधियों का एक दल अभी हाल ही में हिन्दुस्तान में आया था। लखनऊ में जब यह दल पहुँचा, तो हमारे सूबे के प्रमुख मुसलमान नेताओं ने उनसे यह पूछा कि चीन के मुसलमानों को क्या विशेषाधिकार प्राप्त हैं। उन्होंने कहा—"चीन के मुसलमान ख़ुदग़रज़ नहीं हैं। मुल्क की आज़ादी और मुल्क की हस्ती का सौदा हम नहीं करना जानते। मुल्क को दुश्मनों के चंगुल से छुड़ाना हर चीनी का फ़र्ज़ है—वह ईसाई हो या बौद्ध हो, या किसी और मज़हब का माननेवाला ही क्यों न हो।" साम्प्रदायिक भेद पर विशेष अधिकार माँगना और ऊल-जलूल दावे पेश करना और उन माँगों के न पूरा होने पर मुल्कफ़रोशी पर कमर कस लेना किसी सच्चे देशभक्त का न फ़र्ज़ है, और न होना चाहिए।

इसी तरह इस सूबे के ईसाई भाई भी साम्प्रदायिक भेद के कारण अपने को एक अलग जमात का समझते हैं। ईसाई जनता में रात-दिन इस भाव के भड़काने की कोशिश जारी है। अलग लेख में हम इसका सविस्तर वर्णन करेंगे, लेकिन यहाँ पर इतना कह देना ज़रूरी है कि ईसाई सम्प्रदाय आज तालीम के लिहाज़ से इस सूबे के अन्य सम्प्रदायों से बहुत आगे बढ़ा-चढ़ा है। ईसाई

मज़हब का इतिहास इस बात का गवाह है कि ईसाइयों ने सदा से अपने मुल्क की आज़ादी की लड़ाई में सबसे आगे क़दम बढ़ाया है। चीन के ईसाइयों ने कोई ज़िद नहीं की, कोई ख़ास माँग नहीं पेश की और न उन्होंने यह कहा कि जब तक ये उनकी माँगें पूरी न की जायँगी तब तक जापान के ख़िलाफ़ वे तलवार न उठायेंगे। इसी तरह जापान के ईसाइयों ने भी अपनी देशभक्ति का सौदा करना अपने उसूलों के ख़िलाफ़ समझा। इजिप्ट (Egypt) के काप्टों (Copts) का भी यही दृष्टिकोण है। उन्होंने न तो कोई विशेषाधिकार माँगे और न उन्हें कोई विशेषाधिकार दिये गये। फिर कोई वजह नहीं है कि इस सूबे के ईसाई अपने को एक विभिन्न जातिवाला समझें, जिनको इस मुल्क से आज़ादी और ग़ुलामी से कोई ख़ास सरोकार नहीं है; और धर्म के नाम पर बग़ावत के नेता बने रहें जब अन्य मज़हबों के माननेवाले उन्हीं के भाई आज़ादी के नाम पर हर तरह से क़ुर्बानियाँ कर रहे हों।

इस अल्पता की समस्या के नाम पर आज एक बहुत बड़ी बात देखने में आई। पटना में जो अभी हाल ही में मुस्लिम लीग का अधिवेशन हुआ, उसमें देशी रियासतों के विषय में एक प्रस्ताव स्वीकृत हुआ। उस प्रस्ताव का लक्ष्य हैदराबाद के कांग्रेस-आन्दोलन की ओर है। उसमें कहा गया है कि यद्यपि मुस्लिम लीग को देशी रियासतों की रियाया के साथ पूरी सहानुभूति है, लेकिन अगर इंडियन नेशनल कांग्रेस उनकी हिमायत करेगी तो मुस्लिम लीग ख़ामोश नहीं बैठेगी, बल्कि कांग्रेस से ताल ठोंककर मोरचा लेने के लिए मैदान में उतर पड़ेगी। हैदराबाद की शासन-प्रणाली उसी तरह निरंकुश है, जिस तरह ग्वालियर, इन्दौर या बड़ौदा की। भूपाल और रामपुर की वही दशा है जो टीकमगढ़, रीवा या टेहरी (गढ़वाल) की है। हम लोग जो प्रजातन्त्रवादी हैं, उनके लिए हैदराबाद और बड़ौदा, भूपाल या ग्वालियर सब समान हैं। चाहे इस्लामी झण्डे के नीचे निरंकुशता ही राज्य करती हो, चाहे हिन्दवानी झंडे के नीचे वह निरंकुशता निरंकुश ही बनी रहेगी, प्रत्येक स्वाधीन-चेता भारतवासी की दृष्टि में वह एक-सी दूषित है। देशी रियासतों की प्रजा के साथ सदा से जो जुल्म होते चले आये हैं और जिस तरह उनके हाथों इनका शोषण होना रहा है उसको देखकर कौन आज़ादी-पसन्द हिन्दुस्तानी होगा जिसके हृदय को चोट न लगे। हम उनका

साथ दें या न दें, यह एक बात है; लेकिन इस हद तक गिर जाना हमारे लिए शर्म की बात होगी कि वहाँ की हिन्दू या मुसलमान रियाया के साथ, चाहे जितना अत्याचार क्यों न हो, किन्तु ब्रिटिश इंडिया के किसी हिन्दू या मुसलमान को ज़बान खोलने का अधिकार नहीं है। मुस्लिम लीग का यह दावा कि हैदराबाद की रियाया अगर आज़ादी की लड़ाई लड़े तो ब्रिटिश इंडिया के हिन्दू या मुसलमान वहाँ की रियाया के साथ हमदर्दी ज़ाहिर न करें, सरासर ग़लत है, और यह इस बात का सबसे बड़ा सबूत है कि मुस्लिम लीग का दृष्टिकोण एक साम्प्रदायिक दृष्टिकोण है। वह कोई आज़ादी की लड़ाई लड़नेवालों की जमात नहीं। वह तो उन लोगों की जमात है, जो मज़हब के नाम पर विशेष अधिकार पाने या जहाँ पर उनको वे अधिकार प्राप्त हैं, वहाँ उनकी रक्षा करने के लिए मर-मिटने को तैयार हैं। मुसलमान सरमाएदारों और ठेकेदारों की तो वह आजकल पनाह बन गई है। ग़रीबों का चाहे जितना शोषण हो, लेकिन अगर शोषण करनेवाले मुसलमान हैं तो उनकी तरफ़ किसी को उँगली उठाने की हिम्मत भी नहीं करनी चाहिए। अगर काश कोई भूल से ऐसी बेअदबी कर बैठे, तो मुस्लिम लीग उससे ख़ुद लड़ने के लिए तैयार हो जायगी। लीग दावा करती है कि आज़ादी की लड़ाई में फ़िलस्तीन के अरबों से उसकी हमदर्दी है। फ़िलस्तीन के यहूदियों को विशेषाधिकार तो नहीं मिलना चाहिए; अधिकार मिलना तो दूर रहा, उन्हें वहाँ रहने भी न देना चाहिए। वहाँ पर अक्सरियत (Majority) की ये लोग दुहाई देते हैं, लेकिन हिन्दुस्तान में ये लोग अक्सरियत को भूल जाते हैं। यहाँ पर अक़्लियत (माईनारिटी) का झंडा ऊँचा रखना चाहते हैं। हिन्दुस्तान के बाहर मुस्लिम देशों में मुस्लिम लीगवाले अक्सरियत के हिमायती हैं, लेकिन हिन्दुस्तान के अन्दर इनकी निगाह में अक्सरियत की कोई वक़त नहीं। उन सूबों में जहाँ मुसलमानी सम्प्रदायवालों की संख्या आबादी के लिहाज़ से ज़्यादा है, लीग बहुतों की समर्थक है। लेकिन जिन सूबों में मुसलमानों की संख्या आबादी के लिहाज़ से कम है, वहाँ ये लोग अक्सरियत की दुहाई नहीं देते। वहाँ अक्सरियत का उसूल ठुकराने के लिए तैयार हैं और अक़्लियत का झंडा ऊँचा करना चाहते हैं। क्या इनका यह दावा है कि ऐसे सूबों में अक्सरियत का कोई हक़ नहीं है, उसका कोई अधिकार नहीं? वहाँ यदि किसी का कोई हक़, स्वत्व और अधिकार है, तो क्या केवल अक़्लियत ही को वह प्राप्त है?

इस राजनीतिक लाउसूली—सिद्धान्त-हीनता—का एक ही कारण है। वह यह है कि हिन्दुस्तान में अल्पता या अक़्लियत की समस्या को मुस्लिम लीग शुरू से ग़लत समझती चली आई है। इसको सही ढङ्ग पर जनता के सामने रखने की उसने कभी कोशिश नहीं की। वह तो सरमायेदारों की हिमायती और ब्रिटिश साम्राज्यी नीति की पोषक थी और आज भी है। इसलिए मिस्टर जिन्ना पटने से चिल्लाते हैं कि हिन्दुस्तान के सब मुसलमानों की एक जाति है। हिन्दुस्तान के मुसलमान, उनके शब्दों में, एक नेशन हैं। नागपुर से इसके जवाब में हिन्दू-महासभा के सभापति, श्री विनायक दामोदर सावरकर, हुङ्कार देते हैं कि हिन्दुस्तान के हिन्दू बहुसंख्यक हैं; वे ही हिन्दुस्तानी राष्ट्र के एकमात्र अंग हैं। मुसलमान और ईसाई तो उस अंग के बाहरी टुकड़े हैं। दोनों ही ग़लत रास्ते पर चल और अपने-अपने अनुयायियों को ख़ंदक में ढकेलने की कोशिशें कर रहे हैं। सच तो यह है कि हिन्दुस्तान में न मुस्लिम-राष्ट्र सम्भव है और न हिन्दू-राष्ट्र। हिन्दुस्तान की राष्ट्रीयता हिन्दी राष्ट्रीयता है। हम भारतीय हैं। यहाँ पर एक ही राष्ट्र हो सकता है। उस राष्ट्र का आधार हिन्दी जाति है। वह जाति न हिन्दू है, न मुसलमान। उसमें हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, सिक्ख, पारसी, यहूदी और बौद्ध, सभी शामिल हैं। अल्पता का सवाल योरप में भिन्न है, वहाँ इसका आधार जाति-भेद है। हिन्दुस्तान में भी जाति-भेद के कारण प्रान्त-भेद हो सकता है। लेकिन सम्प्रदाय-सम्बन्धी विभेदों पर जाति-निर्माण न तो जिन्ना साहब करने में समर्थ होंगे और न सावरकर साहब।

इसी दृष्टि से हम इस सूबे की अल्पता-समस्या पर विचार करने जा रहे हैं। समस्या हमारे सामने मौजूद है। उसके अस्तित्व से किसी को इनकार नहीं। शीघ्र से शीघ्र उसका समाधान होना मेरी दृष्टि में परमावश्यक है; लेकिन इसका समाधान तभी सम्भव है, जब बुनियादी बातों के सम्बन्ध में हम सही राय क़ायम करें। अगर बुनियादी मामलों ही में हम भटक गये, तो समस्या का सही ढङ्ग से हल करना हमारे लिए संभव न होगा। और बुनियादी बात यह है कि सूबे की अल्पता साम्प्रदायिक है जातिगत नहीं।

[जनवरी १९३९

मुस्लिम लीग का गप्पाष्टक

कांग्रेस के जन्म ही से कुछ हिन्दू और मुसलमान सज्जन तत्कालीन कुछ सरकारी अफ़सरों के इशारे पर उसका विरोध करने लगे। इन विरोधियों में सर सैयद अहमद ख़ाँ और राजा शिवप्रसाद के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। सर सैयद ने अपने कांग्रेस-विरोधी आन्दोलन के संचालन में बहुत बड़ी सफलता प्राप्त की। कांग्रेस से मुसलमानों को अलग रखने के लिए सर सैयद अहमद और उनके अनुयायियों ने कई कपोलकल्पित बातों का प्रचार किया। और दुख के साथ हमें यह स्वीकार करना पड़ता है कि यद्यपि इन मनगढ़ंत किंवदन्तियों का मुसलमान-समाज में बड़ी तत्परता के साथ प्रचार हुआ है, लेकिन राष्ट्रवादियों ने उनके खण्डन या निराकरण का कोई संगठित रूप से प्रयत्न नहीं किया। इसका नतीजा यह हुआ कि मुसलमान जनता और मुसलमान नेता सर अहमद ख़ाँ की गप्पों को आज दिन सत्य मानकर दोहराते हैं। इन्हीं निःसार और अनर्गल गप्पों को लेकर मुस्लिम लीग ने पिछले तीन साल में सारे देश में तूफ़ान बर्पा कर दिया और राष्ट्रीय एकीकरण की प्रवृत्तियों को इतना धक्का पहुँचाया कि साम्प्रदायिक मनोमालिन्य मिटना बहुत ही कठिन और दुस्साध्य प्रतीत होने लगा।

× × ×

मुसलमान समाज में बहुत-से असत्य, सत्य के रूप में, हमें आज दिन मिलते हैं। लीग के हर जलसे में और उर्दू के हर अख़बार में इन्हीं गप्पों का प्रायः ज़िक्र आप पायँगे। सब गप्पों की तालिका बनाना एक दुस्साध्य काम था—इसलिए मैंने उनमें से आठ गप्पों को चुन लिया है। वे ये हैं:—

१—हिन्दुस्तान में दो क़ौमें हैं—एक हिन्दू और दूसरी मुसलमान। हिन्दुस्तान में न कभी एक क़ौम थी और न कभी एक क़ौम हो सकती है।

२—मुसलमानों का इस देश में राजनीतिक महत्त्व है, क्योंकि उन्होंने हिन्दुओं पर एक हज़ार साल तक शासन किया है। शासक शासित की अधी-

नता को कदापि स्वीकार नहीं कर सकता। इसलिए अल्पसंख्यक होते हुए भी मुसलमानों को बहुसंख्यक हिन्दुओं के बराबर अधिकार मिलना चाहिए।

३—मुसलमानों की संस्कृति हिन्दुओं की संस्कृति से भिन्न है। उसके संरक्षण के लिए यह ज़रूरी है कि मुसलमानों को राजनीतिक क्षेत्र में विशेष अधिकार प्राप्त हों, ताकि उनकी संस्कृति पर किसी प्रकार का हमला न हो सके।

४—सब मुसलमान एक हैं। अभी हाल ही में कांग्रेस के वर्त्तमान सभापति, मौलाना अब्दुल कलाम आज़ाद ने, लखनऊ में होनेवाले शिया-सुन्नियों के झगड़े को शान्त करने की गरज़ से एक वक्तव्य प्रकाशित किया था। उसमें आदरणीय मौलाना ने शिया-सुन्नियों को मेल करने का आदेश दिया था, यह कहकर कि मेल न करने से हिन्दुस्तान के मुसलमानों की एकता ख़तरे में आ जायगी। मुस्लिम लीगवाले भी सब मुसलमानों को लीग के झंडे के नीचे जमा होने के लिए यह कहकर उत्तेजित करते हैं कि हिन्दुओं के इस देश में सब मुसलमानों का यह फ़र्ज़ है कि वे अपने हममज़हब का साथ दें। मुसलमानों की एक ही प्रतिनिधि संस्था है, और लीग ही एक ऐसी संस्था है जो हिन्दुस्तान के मुसलमानों की ओर से और उनके नाम पर इस मुल्क में रहनेवाली दूसरी क़ौम के साथ समझौता कर सकती है।

५—इस्लाम, प्रजासत्तात्मक है। जम्हूरियत या बहुमत, कहा जाता है, इस्लाम के नस-नस में भरा हुआ है।

६—हिन्दुस्तान के प्रान्तों में कांग्रेसी हुकूमतों ने मुसलमानों पर तरह-तरह के अत्याचार किये।

७—हिन्दुओं की तुलना में मुसलमान ग़रीब हैं, इसलिए उनको आगे बढ़ाने के लिए, हिन्दुओं को और प्रान्तीय सरकारों को उनके साथ विशेष उदारता का व्यवहार करना चाहिए। जितना दूसरी क़ौमों को दिया जाय उससे अधिक मुसलमानों को मिलना चाहिए, क्योंकि मुसलमान दूसरों को देखते हुए ग़रीब हैं।

८—मुसलमान शिक्षा में पिछड़े हुए हैं; अतएव इनमें शिक्षा के फैलाने के लिए यह परमावश्यक है कि सरकार उन्हें विशेष रूप से सुविधायें दे। शिक्षा

में पिछड़े हुओं की कसौटी क्या है ? क्या कसौटी यह है कि आबादी के लिहाज़ से शिक्षालयों में मुसलमान विद्यार्थियों की संख्या कम है ? मुसलमान नेता इस बात को स्वीकार नहीं करते, उनकी कसौटी न्यारी है। उदाहरण के लिए, करामत-हुसेन कमेटी की रिपोर्ट को देखिए। इस सूबे की तत्कालीन हुकूमत ने मुसल-मानों में शिक्षा के प्रचार के साधनों पर विचार करने के लिए सन् १६०६ में इस कमेटी को नियुक्त किया था। इसके सभापति थे स्वर्गीय करामतहुसेन साहब। इस कमेटी ने मुसलमानों की शिक्षा-सम्बन्धी दीनावस्था की व्याख्या करते हुए यह कहा कि जब तक शिक्षालयों के सौ विद्यार्थियों में से मुसलमान विद्या-र्थियों की संख्या ४० न हो, तब तक यह समझना चाहिए कि सूबे के मुसलमान तालीम के मामले में हिन्दुओं की अपेक्षा पिछड़े हैं।

× × ×

आइए, हम इन निस्सार प्रलापों पर गम्भीरता-पूर्वक विचार करें और देखें कि इनमें कहाँ तक सत्य का अंश है। पहली गप्प को ले लीजिए कि इस मुल्क में दो क़ौमें हैं। इस लेख का भारतवर्ष से सम्बन्ध नहीं है। इसका विषय है युक्तप्रान्त में अल्पता की समस्या। अतएव हम अपने सूबे के बाहर इस मसले की विवेचना जाने नहीं देना चाहते। केम्ब्रिज यूनिवर्सिटी ने 'भारतवर्ष का इतिहास' नामक ग्रन्थ कई बड़ी बड़ी जिल्दों में प्रकाशित किया है। कई लेखकों ने मिलकर इसे लिखा है। जो जिस विषय का अधिकारी है, उसी ने उस विषय पर इस इतिहास में लेख लिखा है। यह ग्रन्थ अँगरेज़ी में प्रकाशित भारतीय इतिहासों में बहुत ही प्रामाणिक माना जाता है। इस ग्रन्थ के प्रथम खण्ड में एक अध्याय है। उसका शीर्षक है, 'भारतवर्ष की जातियाँ'। इस अध्याय के अन्तर्गत यह स्पष्ट शब्दों में लिखा गया है कि युक्तप्रान्त के निवासी एक दूसरे में इतना घुलमिल गये हैं कि जातीयता की दृष्टि से इस प्रान्त को एकजातीय कहना ठीक होगा। यहाँ पर आदि में आस्ट्रेल्वायड जाति के लोग रहते थे। यह तब की बात है जब इतिहास का भी जन्म नहीं हुआ था। ये लोग कहाँ से आये, कैसे आये हैं, इसका अभी तक निर्णय नहीं हुआ। इसके बाद भारत में द्रविड़ों का प्रवेश हुआ, तत्पश्चात् आल्पन नामक एक जाति के लोग काश्मीर की ओर से हिन्दुस्तान में आये। इसके पश्चात् आर्यों का इस देश में आगमन

हुआ। बाद में यवन आये, हूण आये, कुश आये, अफ़ग़ान आये, मुग़ल आये। उपर्युक्त सब जातियों के सम्मिश्रण से युक्तप्रान्त के वर्तमान निवासियों का सृजन हुआ। पूर्वगामिनी जातियों का रक्त निरन्तर सम्मिश्रण से अपनी विभिन्नता को खो चुका है।

यह तो हुई केम्ब्रिज विश्वविद्यालय-द्वारा प्रकाशित भारतीय इतिहास के महामान्य लेखकों की सम्मति। अब दूसरी बात सुनिए। वह यह है कि मनुष्य-विज्ञान के विशेषज्ञ इस बात में पूर्ण रूप से सहमत हैं कि पश्चिमी पञ्जाब के मुसलमान, पूर्वी पंजाब के जाट और युक्तप्रान्त के ब्राह्मणों के कौमी अथवा जातीय लक्षण पूर्ण रूप से समान हैं। जब पश्चिमी पंजाब के मुसलमान और युक्तप्रान्त के ब्राह्मणों में कोई कौमी भेद नहीं, तो युक्तप्रान्त के मुसलमान और ब्राह्मणों में विभिन्नता की भावना करना, भेद का स्वप्न देखना, परले दर्जे की बेवकूफ़ी होगी। यह सही है कि इस सूबे में अफ़ग़ान, मुग़ल और ईरानी मुसलमान काफ़ी संख्या में मध्यकालीन युग में आये। लेकिन उनके साथ औरतें कितनी आईं? पिछले हज़ार वर्ष ने उनकी औलादों में वह काया-पलट, उलट-फेर, कर दी कि वे ख़ून के एतबार से विशुद्ध युक्तप्रान्तीय हो गये। हमने देखा है कि मुस्लिम लीग के नेता भी इस सच को अब दबी ज़बान से स्वीकार करने लगे हैं कि हिन्दुस्तान के ६० प्रतिशत मुसलमान उन हिन्दुओं की औलाद हैं जो अपने धर्म को छोड़कर किसी समय मुसलमान हो गये थे। वे यह भी अब स्वीकार करते हैं कि मि० जिन्ना के पूर्वज भाटिया थे और पञ्जाब के प्रधान मन्त्री, सर सिकन्दर हयातख़ाँ के पूर्वज आदि में खत्री थे। बङ्गाल के प्रधान मंत्री भी किसी विदेशी माता-पिता की संतान नहीं। मुस्लिम लीग के नेताओं के इस कथन की तुलना कीजिए सर अहमदख़ाँ के उस कथन से कि हिन्दुस्तान के मुसलमान इस मुल्क के बाशिन्दे नहीं। "यह तो अपने मुल्क से आकर इस मुल्क में आबाद हुए।" साठ सत्तर साल तक सर अहमद की इस गप्प का मुसलमानों में इतने ज़ोर से प्रचार होता आया कि रास्ता चलते हुए मुसलमान भी अपने को परदेशी समझने लगे। क्या हम आशा करें कि राष्ट्रीयता के पुजारी इस गप नम्बर एक की निस्सारता को हिन्दू और मुसलमानों को समझाने में कोई कोर-कसर न रक्खेंगे? पिछले साठ साल तक हम चुप रहे। इस

झूठ के प्रतिकार की कुछ भी चेष्टा नहीं की। क्या हम इस निस्सारता को स्वीकार करेंगे या अधिक सतर्क होकर इस तरह के झूठे प्रलापों के ज़हरीले परिणामों को अनुभव करते हुए इसके खण्डन की आवश्यकता को स्वीकार करेंगे?

× × ×

अब दूसरी गप्प लीजिए। यह अकसर कहा जाता है कि हिन्दुस्तान में एक हज़ार साल तक मुसलमानों ने हिन्दुओं पर हुकूमत की। सच बात तो यह है कि हिन्दुस्तान में हुकूमत जिन लोगों ने की थी, वे वास्तव में परदेशी मुसलमान थे। आज तक हिन्दुस्तान में किसी हिन्दुस्तानी मुसलमान ने अपने देश पर कभी शासन नहीं किया। यह कहना कि हिन्दुस्तान में एक हज़ार साल तक मुसलमानों का राज्य रहा और हिन्दू उनके शासित थे, उतने ही अंश में ठीक है जितने अंश में यह कहना ठीक होगा कि हिन्दुस्तान में ईसाई पिछले २०० वर्ष से राज्य करते चले आये हैं। पिछले २०० वर्ष से भारत में अँगरेज़ों का राज्य है। वे ईसाई अवश्य हैं। इस नाते क्या किसी हिन्दुस्तानी ईसाई को यह कहने का अधिकार प्राप्त हो सकता है कि वह दो सौ वर्ष से हिन्दुस्तान के रहनेवाले हिन्दुओं और मुसलमानों पर शासन कर रहा है? अफ़ग़ानों और मुग़लों के ज़माने में इस देश के हिन्दू और मुसलमान जैसे पराधीन थे, वैसे ही आज अँगरेज़ों के शासन-काल में हिन्दुस्तान के हिन्दू, मुसलमान और ईसाई परदेशी के ग़ुलाम हैं। मज़हब चाहे जिसका जो हो, लेकिन हिन्दुस्तानी आज भी ग़ुलाम हैं और उस युग में भी ग़ुलाम थे जब हिन्दुस्तान में परदेशी मुसलमानों की हुकूमत थी। उन दिनों हिन्दुस्तानी मुसलमान उतने ही पराधीन थे, जितने हिन्दुस्तान के हिन्दू पराधीन थे। देश के शासक के हम-मज़हबी, सहधर्मी, होने के नाते किसी भी हिन्दुस्तानी को यह हक़ नहीं हो सकता कि वह शासित होते हुए भी शासक की ऊँची गद्दी पर बैठकर यह कहे कि अन्य मतावलम्बी हिन्दुओं पर वह शासन करता है। हिन्दुस्तान के मुसलमानों ने हिन्दुस्तान के हिन्दुओं पर कभी हुकूमत नहीं की और न आज दिन हमारे हिन्दुस्तानी ईसाई भाई हमारे ऊपर शासन कर रहे हैं। दिल्ली—शिमला से प्रकाशित होनेवाले साप्ताहिक "रायज़ वीकली" में एक लेख प्रकाशित हुआ था, जिसमें इसी विषय

की बड़ी विशद विवेचना की गई थी। उस लेख में कहा गया था कि दो क़ौमों की आवाज़ जितनी ग़लत है, उतनी ही वह ख़तरनाक भी है। आज के मुसलमान कल के हिन्दू हैं। हमारा भी यही कहना है कि मत-परिवर्त्तन से किसी की जाति नहीं बदलती। कोई भी हिंदू महज़ मुसलमान या ईसाई हो जाने के कारण इस देश में परदेशी नहीं हो सकता। वह स्वदेशी ही बना रहेगा।

× × ×

क्या मुसलमानों की संस्कृति हिन्दुओं की संस्कृति से भिन्न है? क्या इस देश के हिन्दुओं में भी कोई ऐसी संस्कृति हमें मिलती है, जो हिमालय से लेकर कन्याकुमारी तक और पूर्वी बंगाल से लेकर पश्चिमी सीमान्त तक समान रूप से देशव्यापी है? क्या हिन्दुओं में विभिन्न आचार-विचार प्रचलित नहीं? इसी तरह, क्या सब मुसलमानों की संस्कृति एक-सी है? शिया-सुन्नियों को ले लीजिए। दोनों में जितना गहरा धार्मिक भेद है, उतना ही व्यापक भेद उनके रहन-सहन के मामले में भी आपको मिलेगा। ऐसी दशा में यदि हिन्दू और मुसलमानों की संस्कृति भिन्न है, तो हमें यह भी स्वीकार करना पड़ता है कि देश में रहनेवाले शिया और सुन्नियों की संस्कृतियाँ भी भिन्न हैं। पं० जवाहरलाल नेहरू ने अपने एक निबन्ध में हिन्दू और मुस्लिम संस्कृतियों की विवेचना की है और वे इस परिणाम पर पहुँचे हैं कि भारतवर्ष में मुसलमान या हिन्दू संस्कृति नाम की कोई वस्तु नहीं मौजूद है। हमें यह न भूलना चाहिए कि देश के हिन्दू और मुसलमानों में केवल धर्म का भेद है और धार्मिक संस्कारों का यद्यपि मानव-समाज पर व्यापक प्रभाव पड़ा करता है; परन्तु यह कदापि नहीं कहा जा सकता कि धर्म ही एकमात्र संस्कृति और संस्कारों का निरूपक है। हिन्दुस्तान के अन्दर ही सिंध के मुसलमानों की तुलना बंगाल के मुसलमानों से कीजिए या मलाबार के रहनेवाले मुसलमानों की तुलना पश्चिमोत्तर में रहनेवाले मुसलमानों से कीजिए, आपको प्रत्यक्ष मालूम होगा कि यद्यपि ये चारों मुसलमान सुन्नी हैं, एक ही ख़ुदा की उपासना करते हैं, एक ही पैग़म्बर के अनुयायी हैं और एक ही धर्म-ग्रन्थ को ईश्वर का कलाम मानते हैं; लेकिन इन बातों में एकता होते हुए भी उनके दृष्टिकोणों में, उनकी मानसिक क्रियाओं और प्रतिक्रियाओं में, उनकी विचार-शैली में, उनके राग-विरागों में ज़मीन-आसमान का अन्तर है।

हिन्दुस्तान के बाहर मुसलमान की स्वाधीन देशों में बसनेवाली अनेक जातियाँ भी यह दावा नहीं पेश कर सकतीं कि उन सबकी संस्कृति, बनावट एक है। ईरान, अरब, तुर्की, मंगोल, फिलिस्तीन, ईराक, मिस्र, चीन और जापान के मुसलमानों का सांस्कृतिक ढाँचा एक-दूसरे से बिलकुल नहीं मिलता-जुलता। इस सूबे की संस्कृति में उतना ही मौलिक अन्तर है, जितना मौलिक अन्तर हमको मिलता है योरप और अमरीका में बसनेवाली ईसाई-जातियों की संस्कृति के ढाँचों के आकार-प्रकार में। वास्तविक बात यह है कि संस्कृति के अर्थ ही को हमने अभी तक ठीक-ठीक समझने की चेष्टा नहीं की है। संस्कृति का सही अर्थ है किसी जातिविशेष का दृष्टिकोण-सम्बन्धी अनोखापन। इस अनूठेपन के सृजन में जहाँ धर्म का काफ़ी हाथ है, वहाँ उस जातिविशेष के निवासस्थान, उसके ऐतिहासिक विकास-क्रम, उसके महापुरुषों और दार्शनिकों के आदेश-आचार का भी। अँगरेज़ नेलसन फ्रांस के नेपोलियन से भिन्न है। नेलसन का फ्रांस में उत्पन्न होना असम्भव था, वैसे ही इँगलेंड में नेपोलियन का जन्म लेना असम्भव था। हिन्दुस्तान के मुसलमान तो हिन्दुस्तान ही की उपज हैं। यहीं की मिट्टी के वे पुतले हैं, इस देश के जल-वायु से उनका भरण-पोषण हुआ है। काल की गति से समान रूप से इस देश में रहनेवाले हैं। चाहे वे हिन्दू, ईसाई या मुसलमान हों, एक रूप से प्रभावित, परिमार्जित, परिष्कृत और विकसित होते चले आये हैं। जाति के संघर्ष और भौतिक भेद ने हम सबको समान रूप से पीड़ित और जर्जरित किया है। ऐसी दशा में यह कहना कि युक्तप्रान्त के मुसलमानों का मानसिक दृष्टिकोण युक्तप्रान्त के रहनेवाले हिन्दुओं के मानसिक दृष्टिकोण से भिन्न है, सरासर अनर्गल बात का प्रचार करना है। बङ्गाल के हिन्दू और मुसलमानों में इतनी व्यापक समानता है कि दोनों बंगाल से हज़ारों मील दूर क्यों न चले जायँ, किन्तु वास्तव में दोनों को देखकर बरबस यह कहना पड़ता है कि दोनों एक ही देश के रहनेवाले हैं और दोनों की संस्कृति भी समान है।

इस सम्बन्ध में हम अपना खेद प्रकट किये बिना नहीं रह सकते कि रामगढ़ में होनेवाले कांग्रेस के अधिवेशन में कांग्रेस के सभापति, सम्मानास्पद मौलाना अब्दुल कलाम आज़ाद, ने मुस्लिम संस्कृति की महत्ता के विषय में जो

कुछ कहा, उसको पढ़ने से मुसलमान संस्कृति की विभिन्नता की भावना को प्रोत्साहन मिलने की अधिक सम्भावना है। हमको अचरज है कि राष्ट्रवादी मौलाना ने इस तरह की अनैतिहासिक बातें कैसे कहीं। मौलाना बहुश्रुत हैं, बड़े विचारशील हैं और उनका दृष्टिकोण दार्शनिक है। यदि मौलाना साहब भी इस तरह की निर्मूल बातों को सही मानकर उनका प्रचार कर सकते हैं, तो यह कौन अचरज की बात है कि हमारे अनपढ़ मुसलमान भाई इन मौलाना साहब की बात को लेकर देश में साम्प्रदायिक मनमुटाव के फैलाने का प्रयत्न करते फिरें। मुस्लिम संस्कृति के विषय में मौलाना साहब ने जो कुछ कहा, वह मि० जिन्ना के एतद्विषयक कथनों से किसी प्रकार भिन्न नहीं है। मौलाना साहब कांग्रेस के सभापति हैं। श्री पं० जवाहरलाल नेहरू भी तीन वर्ष तक कांग्रेस के सभापति रह चुके हैं। मुस्लिम संस्कृति के सम्बन्ध में इन दोनों ही आदरणीय सज्जनों की सम्मतियों को आमने-सामने रख लीजिए और आपको तुरन्त मालूम हो जायगा कि राष्ट्रीय और साम्प्रदायिक दृष्टिकोणों में कितना व्यापक अन्तर है। दोनों की प्रेरणायें भिन्न, दोनों की दिशायें भिन्न।

× × ×

मुस्लिम लीग की चौथी गप्प यह है कि सब मुसलमान एक हैं। यह भी एक राजनीतिक कपोलकल्पना है। जैसे हिन्दुओं में वैसे ही मुसलमानों में भी अनेक जातियाँ हैं। जैसे हिन्दुओं में वैसे ही मुसलमानों में अनेक सम्प्रदाय हैं। जैसे हिन्दुओं में वैसे ही मुसलमानों में भी स्थान-भेद के साथ-साथ सामाजिक रहन-सहन में अन्तर है। ऐसी दशा में सब मुसलमानों की एकता का दावा पेश करना जानकारों की आँखों में धूल झोंकना है। लखनऊ के शिया-सुन्नियों के झगड़े ने इस बात को अच्छी तरह से प्रकट कर दिया है कि जिस निन्दनीय निष्ठुरता का अनुभव हमें हिन्दू-मुस्लिम दंगे के दिनों में हुआ करता है, उसी निन्दनीय निष्ठुरता के साथ शिया और सुन्नी भी हमें एक-दूसरे के ख़ून के प्यासे लखनऊ की गलियों में फिरते हुए दिखाई देते हैं। ऐसी दशा शोचनीय है। वह सचमुच अभागा देश होगा, जो इस तरह के फ़साद को देखकर प्रसन्न हो सकता है। लेकिन इन झगड़ों ने मुसलमानों की एकता का दावा एकदम से निर्मूल सिद्ध कर दिया है, और इससे यह प्रकट हो जाता है कि हिन्दू-मुसलमानों

के झगड़ों से यह नतीजा निकालनेवाले ग़लती करते हैं कि हिन्दू और मुसलमान जुदा-जुदा हैं और सब मुसलमान एक हैं।

× × ×

यह भी कहा जाता है कि इस्लाम प्रजासत्तात्मक है और मुसलमान जम्हूरियत के सिद्धान्त में विश्वास करते हैं। इस्लाम के इतिहास को ले लीजिए। खिलाफ़त की तवारीख़ के पन्ने उलट जाइए, इस्लामिक देशों की कहानियों का अध्ययन कीजिए। हिन्दुस्तान ही में परदेशी मुसलमानों के शासनों को देखिए या इस मुल्क में जो मुस्लिम रियासतें कायम हैं, उनके शासन-विधान की आलोचना कर डालिए और आपको मुस्लिम लीग के इन दावों की असत्यता का पता आसानी से लग जायगा। इस्लाम, ईसाई-धर्म और हिन्दू-धर्म के आदि प्रवर्तकों की प्रेरणायें कुछ रही हों और उन्होंने उपदेश कितने ही पावन क्यों न किये हों; लेकिन मानव हिंसा और स्वार्थ, उनके उपदेशों को अपने मार्ग का रोड़ा समझकर, उनकी अवहेलना करता और अनियंत्रित सत्ता का षड्यंत्र रचकर अपने सहवासियों को अपनी स्वेच्छाचारिता का दास बनाने से कदापि नहीं हिचकता। मुस्लिम लीग भी तो यह कहती है कि हिन्दुस्तान का जलवायु प्रजासत्ता के लिए प्रतिकूल है। यदि इस्लाम की बुनियाद जम्हूरियत के उसूल पर रक्खी गई है, तो इस देश में प्रजासत्तात्मक शासन-विधान के सबसे प्रबल समर्थक हिन्दुस्तान के मुसलमानों को होना चाहिए था। लेकिन मि० जिन्ना और उनके साथी पुकार-पुकारकर कहते फिरते हैं कि हिन्दुस्तान में प्रजासत्तात्मक राज्य की स्थापना सर्वथा असम्भव है। इन दोनों ही प्रकार के कथनों में कितना गहरा विरोध है! दौड़ते हुए भी कोई आदमी इस विरोध को देख लेगा—

मन्दिर मसजिद् सबके अन्दर,
राज गुलामी करती है।
दौलत घर का नाम ख़ुदा का,
घर-घर धरना धरती है।

क्या इस्लाम और क्या हिन्दू-धर्म, क्या ईसाई-धर्म और क्या पारसी-धर्म—सब धर्म समाज के साम्पत्तिक विकास के लक्षण-मात्र हैं। साम्पत्तिक परिवर्तनों-द्वारा ही जैसे राजनीति के वैसे ही धर्म के तात्कालिक स्वरूप का **निरूपण**

हुआ करता है। इसीलिए मध्यकालीन युग में जब जागीर-वादियों का बोल-बाला था, धर्म भी मनसबदारों और जागीरदारों का पिछलगुआ बना हुआ समर्थों का सेवक बना फिरता था। ज़ार के रूस में ईसाई-धर्म ज़ार की अन्तर्गत सत्ता का सबसे बड़ा समर्थक और रक्षक था। अष्टम हेनरी के इँगलेंड का धार्मिक विप्लव हमारे ऊपर के कथन के पक्ष में एक प्रमाण है। हिन्दुस्तान के मुसलमान उतने ही प्रजासत्तात्मक हैं, जितनी हिन्दुस्तान की अन्य मताव-लम्बिनी जातियाँ हैं।

× × ×

कांग्रेस-हुकूमत के अत्याचारों की भी पिछले ढाई साल से काफ़ी धूम रही। मुस्लिम लीग के भक्त, जिनमें बङ्गाल के प्रधान मन्त्री मि० फ़ज़लुलहक़ का सबसे ज़्यादा स्थान है, सोते-जागते यह रट लगाये रहते हैं कि कांग्रेसी प्रान्तों में हिन्दुओं और हुकूमतों ने अपने प्रान्तों में रहनेवाले अल्पसंख्यक मुसलमानों के साथ तरह-तरह के अत्याचार करने में कोई कोर-कसर नहीं उठा रक्खी। दिसम्बर सन् १६३६ में मि० हक़ ने मुसलमानों पर किये गये अत्याचारों की एक फ़िहरिस्त अख़बारों में प्रकाशित कराई थी। उनकी इस फ़िहरिस्त में युक्तप्रान्त का भी ज़िक्र है। मि० हक़ ने उन ३३ स्थानों का ज़िक्र किया है जिनमें उनके अनुसार कांग्रेसी हुकूमत के ज़माने में मुसलमानों के साथ अन्याय, अत्याचार और दुर्व्यवहार किये गये थे। इन तैंतीसों इल्ज़ामों की युक्तप्रान्त की लेजिस्लेटिव पार्टी ने दफ़्तर में जाँच की और इस जाँच के आधार पर मैं दावे के साथ यह कहने के लिए तैयार हूँ कि युक्तप्रान्त के विषय में मि० हक़ ने जो कुछ कहा है, वह एकदम ऊलजलूल, असत्य और भ्रान्तिमूलक है। जिसका जी चाहे, कांग्रेस-कमेटी के दफ़्तर में जाकर इन सब तमाम काग़ज़ों को देख ले। उदाहरण के लिए टाँडा के मामले को ले

शान्तिस्थापना की दृष्टि से पुलिस ने उन साधनों का प्रयोग किया, जिनके द्वारा ऐसे अवसरों पर दंगा शान्त किया जाता है। टाँडा के दोषी मुसलमानों के बचाने के लिए मुस्लिम अख़बारों ने एक स्वर से यह आवाज़ उठाई कि टाँडा के मुसलमानों के साथ अकथ अत्याचार का व्यवहार किया गया और जो लोग निरीह और निरपराधी थे, उनको पुलिस ने बड़ी बेरहमी और बेदर्दी के साथ सताया। तीन अदालतों के सामने यह टाँडा का मामला गया। सफ़ाई के वकीलों ने तीनों ही अदालतों के सामने बड़ी ही योग्यता और निर्भीकता के साथ टाँडा के मुसलमानों के इस दावे को रक्खा कि वे वास्तव में निरपराधी हैं और सारा दोष सरकारी कर्मचारियों का था। लेकिन तीनों ही अदालतों ने उनके इस दावे को असत्य माना और अपने फ़ैसले में तीनों ही अदालतें यह लिखने के लिए मजबूर हुईं कि ज़्यादती टाँडा के मुसलमानों की थी, जो क़स्बे के हिन्दुओं के सार्वजनिक रास्तों पर अपने धार्मिक जुलूस निकालने के सारे अधिकारों को बलात्कारपूर्वक रोकना चाहते थे। इस तरह के और कई स्थानों के साम्प्रदायिक झगड़ों के विषय में अदालतों के फ़ैसलों से मुसलमानों की ज़्यादतियों का उल्लेख मिलता है। यदि विस्तारपूर्वक इन तमाम घटनाओं का उल्लेख किया जाय तो एक स्वतंत्र ग्रन्थ रचने की आवश्यकता होगी। लेकिन इसकी यहाँ पर कोई ज़रूरत नहीं। ज़रूरत तो सिर्फ़ इस बात पर ज़ोर देने की है कि मुस्लिम लीग ने और ख़ासकर मि० फ़ज़लुलहक़ ने जान-बूझकर सत्य का ख़ून करना अपना परम कर्त्तव्य समझ लिया है, जिसमें कांग्रेसी सरकारें बदनाम हो जायँ और भयभीत होकर मुसलमानों के साथियों को ख़ुश करने की गरज़ से उनकी नाजायज़ माँगों को मानने के लिए अपने को मजबूर समझें। बदनामी करके अपना काम निकालने की प्रथा का आजकल योरप में काफ़ी मान बढ़ गया है। जिस देश पर जर्मनी ने हमला किया उसके शासकों और निवासियों को अमानुषिक अत्याचारी घोषित किया और तरह-तरह की रोमांचकारी और कपोलकल्पित घटनाओं का अख़बारों और रेडियो-द्वारा प्रकाशन शुरू कर दिया, ताकि लोकमत उत्तेजित हो जाय और नाज़ी-अत्याचार से पीड़ित देश के प्रति किसी के हृदय में नैतिक सहानुभूति का एक बूँद भी न मिले। इन्हीं उसूलों का अनुकरण मि० हक़ और दूसरे

लीगी नेता कांग्रेसी सरकारों के सम्बन्ध में पिछले तीन सालों से करते चले आए हैं।

× × ×

सात और आठ के विषय में हमें कुछ विशेष कहने की ज़रूरत नहीं प्रतीत होती, क्योंकि इसके सम्बन्ध में हम दो स्वतंत्र लेखों में विस्तार के साथ लिख चुके हैं। यहाँ पर इतना ही कह देना काफ़ी होगा कि हिन्दुओं की तुलना में मुसलमानों की माली हालत ज़्यादा अच्छी है, और तालीम में भी मुसलमान हिन्दुओं से आगे बढ़े हैं। इसका अर्थ यह नहीं कि हमारे सूबे के औसत मुसलमानों की आर्थिक दशा, हमारी दृष्टि में, मनोरंजनक है या उसमें सुधार की ज़रूरत नहीं है। लेकिन जैसे अमीरों में वैसे ही ग़रीबों में भी विभिन्न श्रेणियाँ हुआ करती हैं। कोई कम ग़रीब होते हैं, कोई ज़्यादा। किसी की दशा कुछ कम ख़राब होती है और किसी की कुछ अधिक। हमारे प्रान्त के औसत निवासियों की दशा, योरप के समृद्धशाली देशों और अमरीका के संयुक्तराष्ट्र के निवासियों की तुलना में बहुत ही हेय है। इसी तरह से शिक्षा के मामले में भी कमी है और मुसलमान अन्य देशों के निवासियों की तुलना में अभी बहुत पिछड़े हुए हैं। लेकिन इस अनुन्नत दशा में भी इस बात की तुलना करना सम्भव है कि दो सम्प्रदायों में से किसके अनुयायी दूसरों की तुलना में कम शिक्षित हैं। यह बात स्पष्ट है कि मुसलमानों में शिक्षा का प्रचार अधिक है और हिन्दुओं में कम।

जनवरी १९४०]

हिन्दी बनाम उर्दू

(१)

इस सूबे में, ग़दर के बाद से, हिंदी-उर्दू का झगड़ा चला आता है। नवाबी अमलदारी के ज़माने में सूबे की सरकारी ज़बान उर्दू थी। दरबार में उर्दू का बोलबाला था। दरबार के मुसाहिब उर्दू पर कमाल हासिल कर नवाबों के कृपा-पात्र बनने की उम्मीद करते थे। हिंदी का हाल बुरा था। उसका कोई पुरसा हाल न था। देहातों में, ग़रीबों के घरों में, व्यापारियों के बहीखातों में, पंडितों के पोथी-पत्रों या जन्म-कुण्डलियों में हिंदी को जगह मिल जाती थी, क्योंकि बहुत ज़माने से इस सूबे की ज़बान संस्कृत से प्राकृत और प्राकृत से हिंदी में बदलकर इसी रूप में प्रचलित है। इसी हिंदी-भाषा को उर्दू और फ़ारसी के नये और पुराने भक्त तिरस्कार की दृष्टि से सदा देखते आए हैं। नवाबी या ब्रिटिश अदालतों या सरकारी दफ़्तरों में चूँकि उर्दू रायज़ थी, इसलिए नौकरी पाने की ग़रज़ से, लोग उर्दू-भाषा ही सीखते थे। इस तरह हिंदू और मुसलमान, मुलाज़िम और वकला उर्दू लिखने और बोलने लगे। जिस ज़बान में ये लोग आपस में—किंतु अपने घरवालों के साथ नहीं—बातचीत करने के आदी थे, उसी को ये सूबे की ज़बान समझ बैठे। अगर कभी कोई इनके इन ख़यालात को ग़लत बताता, उर्दू के साथ-साथ हिंदी को सरकारी दफ़्तरों और अदालतों में समान रुतबा देने के पक्ष में आवाज़ उठाता, तो उसे तरह-तरह से बदनाम कर उसकी ज़बान पर ताला लगाने की कोशिशें की जाती थीं। जो हाल पहले था, वही आज भी है, यद्यपि अब उर्दू के अनुरक्तों की तादाद दिन-प्रति-दिन घटती और हिंदी के हिमायतियों की संख्या दिन-दूनी और रात-चौगुनी बढ़ती जा रही है। हालाँकि उर्दू बोलने और लिखनेवालों में मुसलमानों और हिंदुओं की कमोबेश तादाद मिलती है; लेकिन इसके होते हुए भी इस सूबे के मुसलमानों ने उर्दू को मुसलमानों की ज़बान क़रार देकर इस मसले को सांप्रदायिक हार-जीत का एक सवाल बना दिया है। इधर जब से कांग्रेस के हाथ में सूबे के शासन की

बागडोर आई, तब से उर्दूवालों के शोर-गुल का कुछ ठिकाना नहीं। हमारे मुसलमान भाई हिंदी-उर्दू के सवाल पर कांग्रेसी सरकार की कड़ी-से-कड़ी समालोचना करने लगे हैं। अगर इन दोस्तों से कोई पूछे कि कांग्रेसी सरकारों ने क्या किया, तो वे जवाब में कोई साफ़ बात नहीं बताते। मेरे लाख पूछने पर भी कि कांग्रेसी सरकार ने कौन-सी ऐसी बात की, जिसकी वजह से उर्दू-ज़बान या लिपि को धक्का पहुँचा, महज़ उत्तर में ख़ामोशी आ खड़ी हो जाती है। कहने को जब कुछ हो, तब कुछ कहा भी जाय। अगर कुछ शिकायतें सुनाई दीं, तो केवल इस बात की कि फ़लाँ मंत्री ने अपनी तक़रीर में संस्कृत के ज़्यादा लफ़्ज़ों का इस्तेमाल किया या फ़लाँ कांग्रेसी नेता ने ख़त उर्दू में न लिखकर हिंदी में लिखा। जो लोग एसेंबली को 'एवान' और माननीय स्पीकर को 'जनाबे-सद्र' या 'जनाबे-आली' कहते हुए भी दावा करते हैं कि वे सूबे की आम-फ़हम ज़बान बोल रहे हैं, वे ही 'सभापति महोदय' और 'धारा-सभा' सुनते ही चिल्लाने लगते हैं कि ये शब्द ग़ैरमानूस हैं। अज्ञानी में एक ख़ूबी होती है। उसे अपनी कमज़ोरियों या ख़ामियों का पता नहीं रहता, और 'सभापति' या 'धारा-सभा' के समान जन-साधारण में प्रचलित, किंतु इनके-से चंद सज्जनों की ज़बान के लिए अपरिचित, शब्दों के इस्तेमाल पर नाक-भौं चढ़ाने लगता है। इसी तरह हमारे दोस्त भी भाषा-संबंधी अपने अज्ञान को माप-दंड बनाते हैं दूसरों के शब्द-ज्ञान को नापने के लिये! इनके भंडार में थोड़े-से लफ़्ज़ हैं। इनके अलावा अगर कोई दूसरे लफ़्ज़ इस्तेमाल करे, तो ये फ़ौरन बिगड़ उठते हैं कि बोलनेवाले को सही ज़बान का इल्म नहीं।

विवेक की शोचनीय कमी है। वह कुछ सम्मानित मौलानाओं की हाँ में हाँ मिलाते हुए संस्कृत और अरबी-ज़बान के कठिन शब्दों को उर्दू या हिंदी के दायरे से भगाने के हामी हो गये हैं। आपको शिकायत है कि हिंदीवाले संस्कृत शब्दों को ज़बान में ज़बरदस्ती ठूसने की चेष्टा कर रहे हैं। आपकी सम्मति है कि ज़बान सहल हो, जिसमें कठोर या ग़ैरमानूस शब्दों का इस्तेमाल न हो। मुझे नहीं मालूम कि आपकी राय में कौन-सी ज़बान सहल है या कठिन। बदक़िस्मती से मैंने उनकी क़लम से हिंदी में न आज तक कोई लेख देखा, और न कोई ख़त पढ़ा। इसलिए मैं नहीं जानता कि आप किस तरह की हिंदी को सहल हिंदी कहेंगे। लेकिन अगर वह अपनी तक़रीरों को हिंदी-उर्दू में अनुवादित करके छपवा दें, तो इस सूबे के बदनसीब अख़बारनवीसों को इस बात की इसलाह मिल जायगी कि सूबे की जनता को कैसी ज़बान लिखना और बोलना चाहिए। आप ही के हमख़याल एक आदरणीय मौलाना साहब हैं। उनकी बहुत-सी स्पीचें मैंने सुनी हैं। उनके कई लेख भी मैंने देखे हैं। उन लेखों को, देहातों की कौन कहे, शहरों में भी पाँच फ़ीसदी से ज़्यादा आदमी आसानी से नहीं समझ सकते। एक दूसरे ऐसे ही आदरणीय मौलाना के भी कुछ लेख मैंने पढ़े हैं। वह जिस तरह की उर्दू ज़बान लिखते हैं, अगर वही सहल ज़बान है, तो मैं यही कहूँगा कि इन लोगों के कोषों में 'सहल' के वह मानी नहीं हैं, जो आमतौर से लोग लगाया करते हैं। सर तेज, सर रज़ाअली, चौधरी ख़लीक़ुज़्ज़मा, मिस्टर मुहम्मदअली जिन्ना, मिस्टर फ़ज़लुलहक़ आदि जितने लोग इस वक़्त उर्दू के हिमायती हैं, उन्होंने हिंदी के समर्थकों पर बेसिर-पैर के बहुत-से लांछन लगाए हैं। उनसे मैं बहुत विनम्रता से यह पूछने की धृष्टता करता हूँ कि उनमें से कितनों ने इस बात के समझने की कोशिश की है कि हिंदी है क्या, हिंदी और संस्कृत का इस मुल्क के दूसरे सूबों की ज़बानों से क्या संबंध है, और इस मुल्क की जो आम ज़बान होगी, उसमें अरबी और फ़ारसी के लफ़्ज़ों और इस्तलाहों—पारिभाषिक शब्दों—का कितना हिस्सा हो सकता है? किसी उर्दूदाँ ने आज तक इन सवालों का जवाब नहीं दिया। शायद इसीलिए नहीं दिया कि इसका कोई ऐसा जवाब हो ही नहीं सकता, जिससे उन्हीं के पक्ष की व्यापक कमज़ोरी न खुल जाय। क्या वजह है कि अगर इस सूबे की

ज़बान उर्दू है, तो यहाँ ग़ालिब, हाली और अकबर के दीवानों के मुक़ाबिले में तुलसीदास की रामायण का हज़ारहा गुना अधिक प्रचार हो? अगर इस सूबे की ज़बान वह ज़बान है, जिसमें ग़ालिब ने अपनी शेरें कहीं या हाली ने अपनी मुसद्दस लिखी, तो फिर गाँव गाँव में उनकी शेरों या इनकी मुसद्दस का उतना ही प्रचार क्यों नहीं, जितना आजदिन रामायण का है? मैं जब सन १६२२ ई० में ब्रिटिश गायना गया था, तब मैंने वहाँ हिंदोस्तान के क़ुलियों को रात में तुलसीदास की रामायण का पाठ करते हुए महीनों सुना। जहाँ तुलसीदास की रामायण हिंदोस्तान से १३,००० मील दूर ब्रिटिश गायना में चालू है, वहाँ इस सूबे से गये हुए सर तेज के भाई-बन्द तुलसीदास के स्थान में ग़ालिब, हाली या अकबर को क्यों नहीं पढ़ा करते? क्या इसकी वजह यह नहीं हो सकती या है कि तुलसीदास की रामायण उस ज़बान में लिखी गई है, जो इस सूबे के रहनेवालों की ज़बान है; और जिस ज़बान में ग़ालिब, हाली या अकबर ने लिखा है, वह ज़बान यहाँ के मुट्ठी-भर पढ़े-लिखे बाबू लोगों की ज़बान भले ही हो; लेकिन वह इस सूबे की ज़बान न थी, न है, और न हो सकती है। इसलिए यह देखकर हमें बेहद तकलीफ़ होती है कि फ़िरक़ावाराना तअस्सुब की वजह से इस मसले पर आजकल ज़रूरत से ज़्यादा गरमागर्मी दिखाई जा रही है, उछल-कूद भी बेतरह हो रही है; हालाँकि इसके लिए न कोई अवसर है, और न कोई ज़रूरत ही मालूम होती है।

तो आप क्यों मेरी ज़बान पकड़ना चाहते हैं। आपको आज़ादी है कि यदि आप चाहें, तो 'अहिंसा' न कहकर उसकी जगह 'अदम तशद्दुद' कहें, 'सत्याग्रह' न कहकर 'सिविल नाफ़रमानी' का इस्तेमाल करें; लेकिन जिस तरह मैं आपको इन अलफ़ाज़ के इस्तेमाल से नहीं रोकता, जिस तरह मैं आपको लफ़्ज़ों के इस्तेमाल में आज़ादी देता हूँ, तो हमारा क्या क़ुसूर है, और आप हमसे क्यों बिगड़ते हैं, अगर वही आज़ादी हम अपने लिए चाहते हैं ?

उन्होंने जवाब में कहा—"वाह जी वाह, ख़ूब रही। अरबी और फ़ारसी लफ़्ज़ों ही के साथ इस्लामी जज़बात और असरात के क़ायम रहने की इस मुल्क में उम्मीद है। आप लोग अरबी और फ़ारसी के लफ़्ज़ों का इस्तेमाल छोड़ देंगे, तो इस सूबे से ख़ासकर और इस मुल्क से आमतौर पर इस्लामी जज़बात और कलचर का नामोनिशान मिट जायगा।"

मैंने डरते हुए जवाब दिया—"मैं इस्लामी जज़बात और असरात का, जैसा आप पर रोशन है, मुख़ालिफ़ नहीं। मैंने जेल में उर्दू पढ़ी, और पढ़ी सिर्फ़ इसलिए कि ग़ालिब, अकबर और उर्दू के अन्य बड़े-बड़े शायरों के कलामों को उन्हीं की ज़बान में पढ़ सकूँ। मैंने अपने बच्चों को भी उर्दू पढ़ाई है। उन्हें उर्दू इसलिए पढ़ाई है कि मेरी यह क़तई राय है कि यह सूबा द्विभाषी है, और इसके रहनेवालों का यह फ़र्ज़ है कि दोनों ज़बानों से वे इक-साँ वाकिफ़ हों। मैं हिंदू हूँ, मगर पैदायश से। इसमें मेरा क़ुसूर नहीं। लेकिन मुसलमानों के मज़हब, मुस्लिम तहज़ीब, मुस्लिम ग्रंथों की इज़्ज़त करना अपना फ़र्ज़ समझता हूँ। मैंने तो ग़ालिब को पढ़ा। क्या आपने कभी तुलसीदास को पढ़ने का कष्ट उठाया ? क्या वजह है कि अकबर तो आपको प्यारे हों, लेकिन सूरदास और रसखान से आपको कुछ भी मुहब्बत न हो। जिस सूबे में आप पैदा हुए हैं, उसी सूबे में ये लोग भी पैदा हुए थे, और उन्होंने अपने-अपने दायरे में कमाल कर दिखाया है। उन्होंने इतने ऊँचे दर्जे की शायरी की है कि इस मुल्क के बाहर भी लोग उनकी तारीफ़ करते हुए नहीं थकते। अगर आपने सूरदास या तुलसीदास को नहीं पढ़ा, तो इसमें नुक़सान किसका हुआ—आपका या मेरा ? मुझे तो ग़ालिब और अकबर पर उतना ही नाज़ है, जितना तुलसीदास और सूरदास पर। क्या आप भी अपने लिए यह दावा कर सकते हैं ? लेकिन

यह सब होते हुए भी अगर मैं 'जनाबे-सद्र' के स्थान में 'सभापति' कहता हूँ, तो आपको कोई शिकायत न होनी चाहिए। इस्लामी जज़बात और असरात किसी के गले के नीचे ज़बरदस्ती नहीं ठूँसे जा सकते। किसी हिंदी बोलनेवाले ने आज तक कभी कहीं पर यह एतराज़ नहीं किया कि फ़लाँ मुसलमान साहब अरबी और फ़ारसी के लफ़्ज़ों को क्यों इतना ज़्यादा इस्तेमाल करते हैं। लफ़्ज़ों के इस्तेमाल में हर-एक को आज़ादी होनी चाहिए। कुछ लफ़्ज़ ज़िंदा रहेंगे, कुछ मिट जायँगे। यह न मेरे हाथ में है, और न जनाब के हाथ में। इसका फ़ैसला न मैं कर सकता हूँ और न आप। इसका फ़ैसला जनता करेगी। लफ़्ज़ों के जिलाने और मारने की ताक़त जनता में है। कौन लफ़्ज़ ज़िंदा रहेंगे और कौन मर जायँगे, यह आम लोगों की रुचि पर निर्भर है। रिवाज और बोलचाल ही लफ़्ज़ों के भाग्य को बनाता और बिगाड़ता है। आप जिन लफ़्ज़ों को चाहें, इस्तेमाल करें, और हमें भी आज़ाद कर दें कि जिन लफ़्ज़ों को हम चाहें, इस्तेमाल करें। जनता इस बात को तय करेगी कि मेरे इस्तेमाल किये हुए लफ़्ज़ों को वह पसंद और मंज़ूर करेगी या आपके इस्तेमाल किये हुए लफ़्ज़ों को। पंडितों और मौलवियों की मरज़ी के ऊपर यह मुनहसर नहीं कि कौन लफ़्ज़ ज़िंदा रहें और कौन मर जायें। सरकारी फ़रमानों और पार्लियामेंट के क़ानूनों के बल पर हम न किसी ज़बान को बदल सकते और न बना सकते हैं। यह तो समाज की ज़रूरत और उस ज़रूरत को व्यक्त करने के लिए शब्दों की शक्ति पर मुनहसर है कि कौन शब्द जनता की ज़बान पर रह जायँगे और किन्हें समाज भूल जायगा।"

के असली ख़यालात का सही उल्लेख है। वह हिंदी के विरोधी नहीं, सिर्फ़ उर्दू के हामी हैं, और मुस्लिम असरात को इस मुल्क में ज़िंदा रखना चाहते हैं। ऐसी ही एक बात मि० फ़ज़लुलहक़ ने, कुछ दिन हुए, पटने में मुस्लिम-शिक्षा-कान्फ्रेंस के सभापति के आसन से व्याख्यान देते हुए फरमाई थी। उनकी दलील थी कि मुसलमानों के लिए उर्दू पढ़ना इसलिए ज़रूरी है कि उनकी मज़हबी किताबें उर्दू-ज़बान और उर्दू-लिपि में लिखी जाती हैं। जो मुसलमान उर्दू से नावाक़िफ़ है, उसे अपने मज़हब का सही ज्ञान नहीं हो सकता। मुसलमानों के लिए तो उर्दू पढ़ना एक मज़हबी फ़र्ज़ है। मियाँ फ़ज़लुलहक़ ने मज़हब की दोहाई दी, और मेरे मुस्लिम कांग्रेसी दोस्त ने इस्लामी जज़बात को क़ायम रखने के लिए उर्दू की ज़रूरत बताई।

ऐसी दशा में अगर उर्दू के हिमायती चाहते हैं कि हिंदू भी उर्दू पढ़ें, और उनकी इस नीति के विषय में अगर हिंदुओं को संदेह हो, तो कौन-सी अचरज की बात होगी? मैं मानता हूँ, भाषा और संस्कृति में अटूट संबंध है। मैं यह भी मानता हूँ कि भाषा को मिटा देने से किसी जाति या संप्रदाय की आत्मा का समूल नाश हो सकता है। साथ ही, मैं यह भी मानता हूँ कि किसी जीती-जागती भाषा को लाख कोशिश करने पर भी कोई आज तक न मार सका, और न मारने में समर्थ हो सकता है। मैं उर्दू का विरोधी नहीं। उर्दू से मुझे सदैव प्रेम रहा है। मुझे बड़ा अभिमान है कि हमारे सूबे में उर्दू के बड़े-बड़े साहित्यिक पैदा हुए हैं। उनकी कृतियाँ मेरी सांस्कृतिक बपौती की अटूट अंग हैं, लेकिन मैं यह भी मानने को तैयार नहीं कि सिर्फ़ वे ही हमारी सांस्कृतिक निधियाँ हैं या उनके अलावा हमारे पास और कुछ है ही नहीं। मैं कालिदास के देश का वासी हूँ। वाल्मीकि और व्यास उसी मुल्क में पैदा हुए हैं, जिसमें मैंने जन्म पाया है। तुलसीदास, सूरदास और विद्यापति उसी मुल्क के रत्नों में से हैं, जहाँ की राख से मैं बना और जहाँ के आबोदाना से मेरी परवरिश हुई। यह महज़ कोरी लफ़्फ़ाज़ी नहीं। मुझे सचमुच जितना प्रेम तुलसीदास से है, उतना ही ग़ालिब और अकबर से; लेकिन साहित्यिक असहिष्णुता और सांस्कृतिक संकीर्णता को देखकर मेरी तबियत घबराने लगती है। इधर पाँच-छः महीने से मैंने हिंदी-उर्दू के मसले पर उर्दूवालों की जो

तक़रीरें पढ़ीं, या गर्मागर्म सुनूत अख़बारों में देखे, उनको पढ़ और देखकर मुझे शर्म आई और पीड़ा भी हुई। कितने दुर्भाग्य की बात है कि इस सूबे में जो लोग पैदा हुए और पले, वे ही तुलसीदास के प्रति कृतघ्नता प्रकट करें; या जिस ज़बान में इस महापुरुष ने लिखा, उस ज़बान की इन लोगों की निगाह में कोई इज़्ज़त न हो, और उसने जो अनमोल ग्रंथ रचा, उसकी इनकी नज़रों में कोई वक़त न हो ! इसमें तुलसीदास का क़ुसूर नहीं। दुर्भाग्य तो है तुलसीदास के इन हमवतनों का, जो पढ़े-लिखे होते हुए भी अनपढ़ हैं, जो आँखें रहते भी देख नहीं सकते, कान होते हुए भी जो सुन नहीं पाते; सचाई के पास से जो गुज़र जाते हैं, लेकिन सच को पहचान नहीं पाते ! ऐसे अर्द्ध-दग्ध जीवों की तंग-ख़याली पर कुछ कहना अनावश्यक है। उनकी मानसिक अपूर्णता ही उनकी कृतघ्नता का दंड है। ऐसे लोग जब हिंदी-उर्दू के मसले पर रायज़नी करते हैं, तब तो मैं यह दावा करने के लिए तैयार हूँ कि उनकी राय की न कोई वक़त है, और न उन्हें इस मसले पर राय देने का कोई अधिकार ही है। जो सूबे की ज़बान को ख़ुद नहीं जानता, उसके लिए यह

वह हज़ारों-लाखों किसानों के उन जलसों में सुनाई देती है, जो आजकल कांग्रेस की बदौलत ज़िले-ज़िले में हो रहे हैं। वहाँ शहर से गए हुए बाबू लोग अपनी ज़िंदगी में पहली बार सूबे की ज़बान को अब सीखने लगे हैं। वहीं उस नई ज़बान की नींव पड़ रही है, जो न वह हिंदी होगी, जिसे काशी के कुछ शास्त्री लिखते हैं, और न वह लखनऊ या दिल्ली के मुल्लाओं की ज़बान होगी। वह ज़बान होगी इस देश के खेतिहरों की, हमारे देश के तेली-तमोलियों की। बँगलों में बैठकर लोग चाहे जो कुछ कहें, लेकिन उनके कहने का असर क्या? बहुतों ने उस ख़ब्ती बादशाह की कहानी पढ़ी होगी, जिसने समुद्र की लहरों को आगे न बढ़ने का हुक्म दिया था। शायद उन्हें वह कहानी अब तक याद हो। मैं तो भाषा के डिक्टेटर बनने के आकांक्षियों से विनम्र शब्दों में प्रार्थना करूँगा कि इस कहानी को वे न भूलें, और जब कभी वे हिंदी-उर्दू के मसले पर बोलना या लिखना ज़रूरी समझें, तब उस नासमझ बादशाह की कहानी को एक बार फिर से याद कर लिया करें। अगर वे ऐसा करेंगे, तो यह कहना नामुनासिब न होगा कि कम-से-कम फ़तवा देते वक्त वह उस नादान बादशाह की ग़लती को दोहराने के ख़तरे से ज़रूर ही बच जायँगे।

(२)

हिंदी-उर्दू के मसले के कई पहलू हैं। पहले पहलू का संबंध लिपि से है। इस सूबे में सिर्फ़ उर्दू-लिपि सरकारी दफ़्तरों और अदालतों में रायज़ रहे, या हिंदी को भी स्थान मिले? बच्चों को इस लिपि में तालीम दी ज़ाय या उस लिपि में? इसी पहलू का एक दूसरा अंग है। वह यह है कि क्या हमारे विद्यार्थियों के लिए दोनों लिपियों का सीखना अनिवार्य कर दिया जाय, या सिर्फ़ छोटे ही दर्जों में? क्या सिर्फ़ ऊँचे दर्जों में एक ही लिपि उनके लिए आवश्यक मानी जाय या शुरू ही से सब लड़कों को एक ही लिपि सिखाई जाय? अगर एक ही लिपि में शिक्षा हो, तो वह कौन-सी लिपि हो? हिंदी या उर्दू? या लिपि के मामले में लड़कों के माता-पिताओं को इस बात की आज़ादी दे दी जाय कि वे जिस लिपि में चाहें, उनके बच्चों को उसी लिपि द्वारा शिक्षा दी जाय? सरकारी दफ़्तरों और अदालतों में आजकल उर्दू-लिपि रायज़ है। क्या यही

हमें आम जनता के शब्द मान लेना चाहिए। किसी तरह का शक करना उनके दावे के ख़िलाफ़ कुफ़्र होगा। लेकिन कुफ़्र हो या न हो, मैं यह कहने का दुस्साहस करता हूँ कि इस तरह की कोशिशें नाकामयाब साबित होंगी, क्योंकि वे असामयिक हैं। असामयिक इसलिए कि वे क़ब्ल-अज़-वक़्त हैं। अभी थोड़े ही दिनों से हिंदू और मुसलिम कार्यकर्ता वोटरों के पास जाने और जाकर उन्हें समझाने के लिए मजबूर हुए हैं। वोटरों तक अपने विचारों को पहुँचाने के लिए उन्हें झख मारकर उनकी ज़बान सीखने की ज़रूरत महसूस होने लगी है। वे हमारी ज़बान से धीरे-धीरे परिचित हो रहे हैं; हम भी धीरे-धीरे उनकी बोली सीखने लगे हैं। पढ़े-लिखों और अनपढ़ों की इस मुटभेड़ की बदौलत शब्द भी रिवाज की कसौटी पर कसे जाने लगे हैं। आजकल भाषा के सोचने की जो यह प्रवृत्ति जारी है, वह अभी चंद दिनों से ही काम करने लगी है। उसे सफल होने के लिए समय चाहिए। जल्दबाज़ी से काम न बनेगा, उलटे एक आम ज़बान के बनने में बाधा अवश्य पहुँचेगी। इसलिए एक कृत्रिम भाषा बनाने के जो प्रयत्न हो रहे हैं, उनका हमें स्वागत न करना चाहिए। मेरी यह निश्चित धारणा है कि यदि हम हिंदी-उर्दू की समस्या को हल करना चाहते हैं, तो दोनों ही के पृथक् अस्तित्व को हमें स्वीकार कर लेना चाहिए। यह आम जनता ख़ुद ही तय कर लेगी कि किस तरह और कैसे दोनों भाषाएँ गंगा-जमुना-सी मिलकर एक हो सकती हैं। दोनों ही कभी-न-कभी एक होकर रहेंगी। लेकिन कब और किस रूप में वे एक होंगी, यह न मैं कह सकता हूँ और न इसके कहने की मुझे कोई ज़रूरत ही मालूम होती है।

(२)

लेकिन इसके पहले कि मैं हिंदी-उर्दू की समस्या पर विचार करूँ, यह आवश्यक मालूम होता है कि मैं एक बात का ज़िक्र कर दूँ, और वह बात यह है कि शुरू से उर्दूवाले यह कहते चले आये हैं कि हिंदी कोई ज़बान नहीं। तिरस्कार से वह उसे 'भाषा' भी कहने से गुरेज़ करते आये हैं। उसके प्रति अपनी नफ़रत का इज़हार उसे 'भाखा' कहकर किया करते थे, और करते हैं। उर्दू के एक बड़े आलिम ने तो यहाँ तक कह डाला कि हिंदी में कुछ है ही नहीं, उसमें तो मज़हबी तर्ज़ की कुछ चंद नज़्में लिखी गई हैं। उर्दूवाले

हमें आम जनता के शब्द मान लेना चाहिए। किसी तरह का शक करना उनके दावे के ख़िलाफ़ कुफ़्र होगा। लेकिन कुफ़्र हो या न हो, मैं यह कहने का दुस्साहस करता हूँ कि इस तरह की कोशिशें नाकामयाब साबित होंगी, क्योंकि वे असामयिक हैं। असामयिक इसलिए कि वे क़ब्ल-अज़-वक़्त हैं। अभी थोड़े ही दिनों से हिंदू और मुसलिम कार्यकर्ता वोटरों के पास जाने और जाकर उन्हें समझाने के लिए मजबूर हुए हैं। वोटरों तक अपने विचारों को पहुँचाने के लिए उन्हें झख मारकर उनकी ज़बान सीखने की ज़रूरत महसूस होने लगी है। वे हमारी ज़बान से धीरे-धीरे परिचित हो रहे हैं; हम भी धीरे-धीरे उनकी बोली सीखने लगे हैं। पढ़े-लिखों और अनपढ़ों की इस मुठभेड़ की बदौलत शब्द भी रिवाज की कसौटी पर कसे जाने लगे हैं। आजकल भाषा के सोचने की जो यह प्रवृत्ति जारी है, वह अभी चंद दिनों से ही काम करने लगी है। उसे सफल होने के लिए समय चाहिए। जल्दबाज़ी से काम न बनेगा, उलटे एक आम ज़बान के बनने में बाधा अवश्य पहुँचेगी। इसलिए एक कृत्रिम भाषा बनाने के जो प्रयत्न हो रहे हैं, उनका हमें स्वागत न करना चाहिए। मेरी यह निश्चित धारणा है कि यदि हम हिंदी-उर्दू की समस्या को हल करना चाहते हैं, तो दोनों ही के पृथक् अस्तित्व को हमें स्वीकार कर लेना चाहिए। यह आम जनता ख़ुद ही तय कर लेगी कि किस तरह और कैसे दोनों भाषाएँ गंगा-जमुना-सी मिलकर एक हो सकती हैं। दोनों ही कभी-न-कभी एक होकर रहेंगी। लेकिन कब और किस रूप में वे एक होंगी, यह न मैं कह सकता हूँ और न इसके कहने की मुझे कोई ज़रूरत ही मालूम होती है।

(३)

लेकिन इसके पहले कि मैं हिंदी-उर्दू की समस्या पर विचार करूँ, यह आवश्यक मालूम होता है कि मैं एक बात का ज़िक्र कर दूँ, और वह बात यह है कि शुरू से उर्दूवाले यह कहते चले आये हैं कि हिंदी कोई ज़बान नहीं। तिरस्कार से वह उसे 'भाषा' भी कहने से गुरेज़ करते आये हैं। उसके प्रति अपनी नफ़रत का इज़हार उसे 'भाखा' कहकर किया करते थे, और करते हैं। उर्दू के एक बड़े आलिम ने तो यहाँ तक कह डाला कि हिंदी में कुछ है ही नहीं, उसमें तो मज़हबी तर्ज़ की कुछ चंद नज़्में लिखी गई हैं। उर्दूवाले

साहबों के महलों तक सीमित है, जहाँ इस मुल्क की आम रियाया की आवाज़ पहुँच भी नहीं पाती। इंद्र के नंदन-कानन में सैर करनेवाले सर तेज और मुसीबत के सताये हुए कंगाल किसानों में ज़मीन-आसमान का अंतर है। दोनों की दुनिया जुदा-जुदा हैं। और, इसलिए सर रज़ाअली या सर तेजबहादुर सप्रू अगर यह कहें कि हिंदी कोई ज़बान नहीं, और शम्सुलउल्मा अपने मकतबों में बैठकर यह पढ़ायें कि हिंदी का कोई साहित्य नहीं, तो इसमें अचरज की क्या बात? अँगरेज़ी सरकार के हिमायतियों और जनता के दृष्टि-कोण में, जैसे और बातों में वैसे ही इस ज़बान के मसले में, अगर व्यापक भेद है, तो इसमें ताज्जुब की क्या बात? उनके ख़यालात हमारे ख़यालात नहीं, उनकी तमन्नायें हमारी तमन्नायें नहीं, उनका लोक हमारा लोक नहीं, उनका परलोक हमारा परलोक नहीं। हम ग़रीबों के सेवक हैं, वे सरमाएदारी के पूज्य। उनकी ज़बान और हमारी भाषा में अगर मेल नहीं खाता, तो ऐसा होना स्वाभाविक है।

हमें अफ़सोस इस बात का है कि जिस मसले को वे नहीं समझते, उस पर रायज़नी करने के लिए हमेशा व्याकुल रहते हैं। फ़तवे निकालने का तो उन्हें मर्ज़-सा हो गया है। इससे किसी का कुछ बनता-बिगड़ता नहीं। लेकिन क्या उनसे अदब के साथ हमारा यह कहना मुनासिब न होगा कि जब ये लोग हिंदी की बाबत लिखने बैठें या बोलने के लिए खड़े हों, तब इन्हें कम-से-कम हिंदी पढ़ने और उसके साहित्य से अपने को परि-चित करने के लिए थोड़ा-बहुत कष्ट उठाना उचित है। अगर ये सब हिंदी-साहित्य के इतिहास को पढ़ें, और उस साहित्य के महारथियों की कृतियों का मुताला करें, तो उन्हें इस बात का पता लग जायगा कि हिंदी कोई नौईजाद चंदरोज़ा ज़बान नहीं, इसकी तो जड़ें हमारे भूतकाल में धँसी पड़ी हैं। मध्य-कालीन भारत में इसका साहित्य इतना बढ़ा और बढ़ते-बढ़ते इतना ऊँचा उठ गया कि इसे दुनिया की अन्य ज़बानों के मुक़ाबिले में बराबरी का दावा करने का हक़ हासिल है। ग़ालिब की क़लम ने सचमुच कमाल किया है, लेकिन सूर और तुलसी के मुक़ाबिले में ग़ालिब का क्या स्थान है। जिस क्षेत्र को सूरदास ने अपनाया, उस क्षेत्र में, मैं यह दावे के साथ कहता हूँ; संसार

साहबों के महलों तक सीमित है, जहाँ इस मुल्क की आम रियाया की आवाज़ पहुँच भी नहीं पाती। इंद्र के नंदन-कानन में सैर करनेवाले सर तेज और मुसीबत के सताये हुए कंगाल किसानों में ज़मीन-आसमान का अंतर है। दोनों की दुनिया जुदा-जुदा हैं। और, इसलिए सर रज़ाअली या सर तेजबहादुर सप्रू अगर यह कहें कि हिंदी कोई ज़बान नहीं, और शम्सुलउलमा अपने मकतबों में बैठकर यह पढ़ायें कि हिंदी का कोई साहित्य नहीं, तो इसमें अचरज की क्या बात? अँगरेज़ी सरकार के हिमायतियों और जनता के दृष्टि-कोण में, जैसे और बातों में वैसे ही इस ज़बान के मसले में, अगर व्यापक भेद है, तो इसमें ताज्जुब की क्या बात? उनके ख़यालात हमारे ख़यालात नहीं, उनकी तमन्नायें हमारी तमन्नायें नहीं, उनका लोक हमारा लोक नहीं, उनका परलोक हमारा परलोक नहीं। हम ग़रीबों के सेवक हैं, वे सरमाएदारी के पूज्य। उनकी ज़बान और हमारी भाषा में अगर मेल नहीं खाता, तो ऐसा होना स्वाभाविक है।

हमें अफ़सोस इस बात का है कि जिस मसले को वे नहीं समझते, उस पर रायज़नी करने के लिए हमेशा व्याकुल रहते हैं। फ़तवे निकालने का तो उन्हें मर्ज़-सा हो गया है। इससे किसी का कुछ बनता-बिगड़ता नहीं। लेकिन क्या उनसे अदब के साथ हमारा यह कहना मुनासिब न होगा कि जब ये लोग हिंदी की बाबत लिखने बैठें या बोलने के लिए खड़े हों, तब इन्हें कम-से-कम हिंदी पढ़ने और उसके साहित्य से अपने को परि-चित करने के लिए थोड़ा-बहुत कष्ट उठाना उचित है। अगर ये सब हिंदी-साहित्य के इतिहास को पढ़ें, और उस साहित्य के महारथियों की कृतियों का मुताला करें, तो उन्हें इस बात का पता लग जायगा कि हिंदी कोई नौईजाद चंदरोज़ा ज़बान नहीं, इसकी तो जड़ें हमारे भूतकाल में धँसी पड़ी हैं। मध्य-कालीन भारत में इसका साहित्य इतना बढ़ा और बढ़ते-बढ़ते इतना ऊँचा उठ गया कि इसे दुनिया की अन्य ज़बानों के मुक़ाबिले में बराबरी का दावा करने का हक़ हासिल है। ग़ालिब की क़लम ने सचमुच कमाल किया है, लेकिन सूर और तुलसी के मुक़ाबिले में ग़ालिब का क्या स्थान है। जिस क्षेत्र को सूरदास ने अपनाया, उस क्षेत्र में, मैं यह दावे के साथ कहता हूँ; संसार

सदल मिश्र और लल्लूलाल ने अगर हिंदी में लिखा, तो ऐसी ज़बान में जिसका कोई अस्तित्व नहीं, जिसका कहीं प्रचार नहीं, और जो जन्म ही से बनावटी एवं कृत्रिम थी।

नहीं, यह कहना सरासर ग़लत है कि हिंदी कोई बनावटी ज़बान है। यह ग़लत है कि हिंदीवाले उर्दू के विद्वेष से प्रेरित या मुस्लिम विरोध से प्रभावित होकर संस्कृत के शब्दों को ठूँस-ठाँसकर एक नई ज़बान ईजाद करने में लगे हुए हैं। हरिश्चंद्र, राजा शिवप्रसाद, राजा लक्ष्मणसिंह, शिवसिंह, महावीरप्रसाद और बालमुकुन्द गुप्त ने संस्कृत-अल्फ़ाज़ को जहाँ अपने लेखों और किताबों में इस्तेमाल किया है, वहाँ वे बहुत काफ़ी तादाद में अरबी और फ़ारसी के शब्दों का प्रयोग करने से भी नहीं हिचके। द्विवेदीजी तो अपने ग्रंथों में अपनी भाषा के प्रवाह की परवा न कर स्थान-स्थान पर संस्कृत के शब्दों के साथ-साथ फ़ारसी और अरबी के पर्यायवाची शब्दों को स्थान देते गये हैं। उन्होंने उस ज़बान में लिखना मुनासिब समझा, जिसे सूबे की दोनों ज़बानों के बोलनेवाले आसानी से समझ लें। इस ज़बान के लिए संस्कृत के शब्द अपने शब्द हैं। वह तो ख़ुद संस्कृत की कोख से पैदा हुई है। वास्तव में संस्कृत की वह रूपांतर है। फ़ारसी और अरबी के शब्द उसके लिए विदेशी शब्द हैं। इसीलिए यदि द्विवेदी, हरिश्चन्द्र या तुलसीदास और सूरदास ने अपनी किताबों में संस्कृत-शब्दों को अपनाया, तो उन्होंने एक स्वाभाविक बात की। उनका ऐसा न करना अस्वाभाविक होता। सवाल यह नहीं है कि हिंदी में संस्कृत-शब्द आयें या न आयें। सवाल तो यह है कि उसमें बाहरी ज़बानों से शब्द लिये जायँ या नहीं? हर शब्द के लेने के पहले हमारे लिए यह सोचना अनिवार्य है कि क्या ग़ैर-ज़बान के किसी शब्द-विशेष को लिये बिना हमारा काम नहीं चल सकता? अगर चल सकता है, तो कोई ज़रूरत नहीं कि हम एकदम बाहरी ग़ैर-ज़बान के शब्दों को लेकर अपनी ज़बान बिगाड़ें। लेकिन जो लोग अरबी और फ़ारसी के न केवल शब्द लेते हैं, बल्कि अरबी और फ़ारसी के व्याकरण-सम्बन्धी नियमों तक का खुलेआम दिन-दहाड़े, बिना संकोच, इस्तेमाल करते हैं, वे स्वयं नाक-भौं सिकोड़ते हैं। संस्कृत-शब्दों के इस्तेमाल पर।

ग़ाज़ी कमाल अतातुर्क की प्रशंसा में हिन्दू-मुसलमानों ने हाल ही में

बड़े लंबे-चौड़े व्याख्यान दे डाले, या अख़बारों में अपनी श्रद्धांजलियाँ प्रकाशित कराईं। कमाल अतातुर्क की यह बात क्या उन्हें नहीं मालूम कि उसने तुर्की ज़बान से उन तमाम अरबी-शब्दों को निकाल बाहर कर दिया है, जो वहाँ मुल्लाओं की कोशिशों के फल-स्वरूप तुर्की-ज़बान में जगह पा गये थे। लेकिन कमाल पाशा के इन्हीं भारतीय भक्तों ने हिंदोस्तान के रहनेवालों के लिए यह मुनादी करा दी है कि वे संस्कृत के लफ़्ज़ों को इस्तेमाल न करें, उन्हें तो ग़ैर-ज़बान के लफ़्ज़ों का इस्तेमाल करना चाहिए। और, अगर वे ऐसा नहीं करते, तो वे जाति-द्रोही तथा सांप्रदायिक मनोमालिन्य फैलाने के दोषी हैं।

हम यह नहीं कहते, हमारी यह धारणा भी नहीं कि जो सज्जन संस्कृत के पर्यायवाची शब्दों के बदले अरबी या फ़ारसी-शब्दों को इस्तेमाल करना चाहते हैं, वे न करें। उन्हें इस मामले में पूर्ण आज़ादी होनी चाहिए। लेकिन जो आज़ादी हम उन्हें देते हैं, वही हम अपने लिए भी चाहते हैं। जैसे उन्हें संस्कृत-शब्दों का प्रयोग करने के लिए, अनिच्छा होने पर, कोई मजबूर नहीं कर सकता, और अगर कोई उन्हें मजबूर करे, तो मैं उसका घोर विरोध करूँगा, वैसे ही किसी दूसरे को यह हक़ नहीं हासिल है कि वह मुझे संस्कृत के शब्दों का प्रयोग करने से रोके, यदि मैं ऐसा करना ठीक समझूँ। हिंदू-उर्दू के मसले के पीछे मानसिक आज़ादी के उसूल उठते हैं। हम किसी की आज़ादी पर आघात नहीं करना चाहते, लेकिन साथ ही हम अपनी आज़ादी का अपहरण भी नहीं होने देना चाहते। उर्दूदाँ अपने लिए तो भाषा के मामले में आज़ादी चाहते हैं; लेकिन उसी हद तक वे दूसरों को आज़ादी देने के लिए तैयार नहीं। हिटलरी विष केवल जर्मनी तक ही सीमित नहीं। ज़बान के मामले में इस तरह की तानाशाही या धींगाधींगी बरसों से इस सूबे में मच रही है। लेकिन अब इसका अंत हो जाना चाहिए। इसका अंत तभी होगा, जब हम नेकनीयती के साथ काम करें। और हिंदी के ख़िलाफ़ झूठे प्रोपेगेंडा का अंत कर दें। हिंदी इस सूबे की जनता के एक भाग की मानसिक और आध्यात्मिक ज़रूरियातों को पूरा करने की उसी तरह साधक है, जैसे जनता के दूसरे भाग की ज़रूरियातों की पूर्त्ति की साधन उर्दू। इस सत्य को स्वीकार करने में किसी को संकोच न होना चाहिए। इसी वास्तविक घटना को मानकर हिंदी-उर्दू की समस्या का निपटारा सहूलियत के

साथ हो सकता है। हिंदी होती या न होती, उर्दू रहती या न रहती—ये सवाल तो हमारे सामने अब हैं नहीं। उर्दू है, उसके अस्तित्व से जो इनकार करे, वह या तो मूर्ख है या पाखंडी। इसी तरह हिंदी है। हमें मानना पड़ेगा कि वह मौजूद है; और उसके अस्तित्व से जो इनकार करता है, वह या तो मूर्ख है या धूर्त्त। इसलिए हम शुद्ध हृदय से मानते हैं कि हमारे सूबे में उर्दू एक जीती-जागती ज़बान है, उसी तरह, जैसे इस सूबे की दूसरी ज़बान हिंदी है। दोनों ही ज़बानें रोज़मर्रा की ज़रूरियातों और मानसिक एवं सांस्कृतिक आवश्यकताओं को अपने-अपने क्षेत्रों में पूर्ण करने में सहायता पहुँचाती हैं।

मेरी यह व्यक्तिगत राय है कि सूबे की मौजूदा हालत में हमें यह मुक्त कंठ से स्वीकार करना चाहिए कि यह द्विभाषी सूबा है। मैं इस दावे को नहीं स्वीकार करता कि हमारे सूबे में आज दिन एक ही भाषा रायज़ है। मुझे मालूम है कि बहुत-से मेरे सम्मानित नेता और मित्र मेरे इस विचार से सहमत न होंगे। उनके कथनों में, मैं स्वीकार करता हूँ, सत्य का अंश है। हमारी बोली में समानता अवश्य है, लेकिन बोली को भाषा का और भाषा को बोली का पर्यायवाची बनाने की ज़रूरत नहीं। सूबे की बोलियों में भी अधिक शब्दों की समानता है। उन शब्दों के अर्थों में समानता है और उनके प्रयोग-संबंधी नियमों में भी। इस दृष्टि से उच्चारण-संबंधी स्थायी भेदों को यदि हम नज़र-अंदाज़ कर दें, तो यह कहना ग़लत न होगा कि इस सूबे की बोली एक है। उस बोली में जहाँ तक हिंदी या उर्दू के शब्द व्यवहृत होते हैं, वहाँ तक दोनों भाषाओं में समानता है। लेकिन, जैसा मैं ऊपर कह चुका हूँ, 'बोली' 'भाषा' नहीं और 'भाषा' 'बोली' नहीं। 'बोली' 'भाषा' का स्थान नहीं ले सकती। 'बोली' में सब तरह के भावों और विचारों को व्यक्त करने के लिए उपयुक्त शब्द नहीं मिल सकते। बहुत ही साधारण बातों को 'बोली' के शब्दों में हम व्यक्त कर सकते हैं। भावों और विचारों की सूक्ष्मता एवं जटिलता को अथवा वैज्ञानिक, पारिभाषिक, दार्शनिक और जीवन-विषयक गहन-गंभीर समस्याओं को जब हम शब्दों में प्रकट करने की कोशिश करेंगे, तब या तो हमें नये शब्द गढ़ने की ज़रूरत होगी, या प्रचलित भाषाओं से शब्द उधार लेने पड़ेंगे। उर्दूवाले फ़ारसी और अरबी के शब्दों को व्यवहृत करने के लिए इसीलिए

विवश हैं कि वे देशी भाषाओं की तुलना में इन दो परदेशी ज़बानों को कई कारणों से अधिक महत्त्व देते और उनके प्रति अधिक अपनपौ दिखाते हैं। परदेशी को अपनाना और स्वदेशी से मुँह मोड़ना पराधीनता का प्रधान लक्षण है। यह प्रवृत्ति ठीक हो या ग़लत, इससे मुझे यहाँ कोई सरोकार नहीं, सरोकार सिर्फ़ इस बात को मान लेने से है कि यह प्रवृत्ति हमारे यहाँ मौजूद है, और इसी के कारण हमारे सूबे में दो भाषाओं की उत्पत्ति हुई और उनका प्रचार है। ऐसी दशा में हमें हिंदी और उर्दू के जुदा-जुदा अस्तित्व को स्वीकार कर लेना चाहिए। दोनों इस सूबे की दो भाषाएँ हैं, दो बोलियाँ नहीं। दो भाषाएँ यदि न होतीं, तो अच्छा होता। लेकिन हम अपनी इच्छाओं से वास्तविकता पर हरताल नहीं फेर सकते। जो है वह है, उसे आँख-मिचौनी से हम मिटा नहीं सकते। और, यदि हम मिटाने की चेष्टा करेंगे, तो हमें घटना की पथरीली चट्टान पर सिर पटकना पड़ेगा। यह मानकर ही कि हमारा प्रांत द्विभाषी है, हमें हिंदी-उर्दू के झगड़े का ऐसा निपटारा करना चाहिए, जिससे दोनों जमातों को तसल्ली हो सके। इसी बुनियाद को सही मानकर हम आगे बढ़ें और इस बात की धीरे-धीरे कोशिश भी कर सकते हैं कि आगे फिर दोनों भाषाएँ मिलकर एक हो जायँ। लेकिन इस समय, जब भाषाएँ दो हैं, उन्हें एक भाषा कहकर फ़ैसला देना झगड़े को मिटाना नहीं, उसे बढ़ाना होगा।

फ़रवरी १९३९]

सरकारी नौकरियों का साम्प्रदायिक बँटवारा

(१)

इस सूबे में, जैसे और सूबों में, मध्यम श्रेणी के पढ़े-लिखे लोगों की निगाह में रोज़ी का सवाल एक विशेष महत्त्व रखता है। हमारी यह परम्परागत धारणा रही है कि सब वृत्तियों में राजवृत्ति या सरकारी नौकरी प्रमुख है। सरकारी नौकरियों में जहाँ और नौकरियों के मुक़ाबले में मुलाज़िमों को ज़्यादा वेतन मिलता है, वहाँ साथ ही साथ राजकर्मचारी होने के कारण समाज में उनका मान और आदर भी अधिक होने लगता है। यह मनोवृत्ति ठीक है या नहीं, इस बात से हमें यहाँ कोई सरोकार नहीं। इस लेख का लेखक सरकारी नौकरियों या अन्य प्रकार की नौकरियों को देश के कल्याण के लिए न तो उतना हितकर समझता है और न आवश्यक, जितना अधिकांश मध्यम श्रेणी के लोग उनको मानते हैं। मेरे लिए तो किसान और मज़दूर कहीं ज़्यादा आवश्यक काम करते हैं, क्योंकि उनके परिश्रम से समाज की सम्पत्ति की वृद्धि होती है। ये उत्पादक हैं, सम्पत्ति के स्रष्टा हैं। ये ही हमारे अन्नदाता हैं। इसलिए इनको आदर की दृष्टि से देखने की ज़रूरत है। लेकिन दूषित मनो-वृत्ति के कारण हमने सम्पत्ति के उत्पादकों के ऊपर दूसरे पेशेवालों को चढ़ा दिया, जो उनकी गाढ़ी कमाई के बल पर चैन से खाते और सुख की नींद सोते हैं। इन्हें हम अमर-बेलि तो नहीं कहेंगे, लेकिन समाज के साम्पत्तिक संगठन में इनका स्थान, सम्पत्ति-उत्पादकों के मुक़ाबले में गौण अवश्य है। हाँ, यह सही है कि धीरे-धीरे सरकारी नौकरियों के प्रति लोगों की मनोवृत्ति बदल रही है। समाज की दृष्टि से इन नौकरियों का अब वह महत्त्व नहीं रह गया है, जो २० या ३० वर्ष पहले इन्हें प्राप्त था। इस सबके होते हुए भी हमें यह स्वीकार करना पड़ता है कि मध्यम श्रेणी के लोगों की दृष्टि में सरकारी नौक-रियों के बँटवारे का सवाल का एक विशेष महत्त्व है। धारा सभाओं में, स्थानीय

बोर्डों में तथा विविधसभाओं और कान्फ्रेंसों में किसी न किसी रूप में यह सवाल बराबर उठता रहता है।

इंडियन नेशनल कांग्रेस ने सन् १९२० से तो इस मसले पर विचार करना एक तरह से बन्द-सा कर दिया है। उसकी मनोवृत्ति में तबसे जो बुनियादी परिवर्त्तन होते गये, उनके कारण सरकारी नौकरियों में हिन्दुस्तानियों को कितने पद मिले, यह एक गौण बात हो गई। देश के शासन का संचालन गोरे या काले हाथों से कराया जाय या न कराया जाय, इस सवाल की अहमियत उसकी दृष्टि में बहुत ही घट गई। उसके लिए तो बुनियादी सवाल यह था और है कि इस देश में विदेशी शासन हो या देशवासियों का? काले और गोरे हाथों की गिनती करना उसने छोड़ दिया। विदेशी हाथों से शक्ति छीनने को उसने प्रधानता दी। लेकिन १९२० के पहले कांग्रेस अपने जन्म-काल से बराबर इस प्रश्न पर हर साल प्रस्ताव पास करती रही कि देश के विभिन्न शासन-विभागों में हिन्दुस्तानियों को अँगरेज़ों के मुक़ाबले में अधिक संख्या में नौकरियाँ मिलें। शुरू में तो कांग्रेस के सामने यही एक प्रधान ध्येय था। शासन की बागडोर को परदेशियों के हाथ से छीनने की ओर कांग्रेस ने उतनी चेष्टा अपने जीवन के आरम्भिक काल में नहीं की, जितनी बाद में वह करने लगी। सरकारी कर्मचारियों में हिन्दुस्तानियों की उत्तरोत्तर भरती बढ़वाने की कोशिश करना उसके लिए शुरू-शुरू में स्वाभाविक था, क्योंकि सन् १९२० के पहले मध्यम श्रेणी के लोग अपने बच्चों को सरकारी नौकरियों में भरती कराने के लिए लालायित थे। उनका यही स्वार्थ था, लेकिन सन् १९२० के बाद कांग्रेस की विचार-धारा एकदम पलट गई। वह जनता की संस्था हो गई, ग़रीबों की पनाह बन गई, देश के भुक्कड़ों और पददलितों की आवाज़ उसके मण्डप में सुनाई देने लगी। आज भी यह कहना एकदम ग़लत न होगा कि कांग्रेस की बागडोर ऐसे हाथों में है, जो या तो स्वयं पूँजीपति हैं, या सरमाएदारों के हिमायती हैं। कांग्रेस के अन्दर आज दिन जो संघर्ष चल रहा है, उस संघर्ष की तह में एक ही सवाल है, यानी कांग्रेस भुक्कड़ों की सक्रिय संस्था हो जाय या सुधारकों के हाथ का खिलौना बनी रहे। श्रेणी-संघर्ष कांग्रेस का अभी ध्येय नहीं, लेकिन सरमाएदारों के विरोधियों की आवाज़ें उसके जलसों

में सुनाई देने लगी हैं। इसलिए सरकारी नौकरियों का प्रश्न कांग्रेस के लिए एक बहुत गौण प्रश्न हो गया है।

गौण हो जाना भी चाहिए, क्योंकि जो करोड़ों ग़रीब भुक्कड़ इस वक्त देश में बिलबिलाते फिर रहे हैं, उन सबके लिए इतनी सरकारी नौकरियाँ कहाँ, जो सबको दी जा सकें? सरकारी नौकरियों में इने-गिने आदमी ही लिये जा सकते हैं। मुट्ठी भर आदमियों के भरण-पोषण का सवाल कांग्रेस के सामने नहीं है। उसके सामने सवाल है इस देश के कंगालों को रोटी देने का, उनके तन ढकने का, और उनके अन्धकारमय जीवन में ज्ञान और विश्राम की एक रश्मि पहुँचाने का। लेकिन फिरकेवाराना—साम्प्रदायिक—जमाअतें आज भी कांग्रेस की इस परित्यक्त नीति का अनुसरण कर रही हैं। उनके पास न तो नये विचार हैं, न नई दृष्टि। वे तो कांग्रेस की नक़ल करती हैं, लेकिन नक़ल करती हैं उन बातों को लेकर, जिन्हें कांग्रेस छोड़ चुकी है। उनमें न तो मानसिक स्वतन्त्रता है और न सूझ-बूझ है जिनसे वे कांग्रेस का मुक़ाबला करने में जनता के सामने नये आदर्शों को रख सकें। कांग्रेस ने जिन चीज़ों को, फटे-पुराने कपड़ों की तरह उतारकर फेंक दिया था, उन्हीं को अपनाकर आज फ़िरक़ेवाराना मजलिसों में मौलवी पंडित कांग्रेस के ख़िलाफ़ आवाज़ उठाने के लिए तैयार हैं। इन्हीं लोगों ने इस मसले को आजकल एक ख़ास महत्त्व दे रक्खा है। साम्प्रदायिक दृष्टिकोण रखनेवाले लोग—चाहे वे हिन्दू हों, चाहे ईसाई या मुसलमान—इन बातों को लेकर असन्तोष की आग भड़काने में लगे हुए हैं। उसके अनुसार सरकारी नौकरियों का ठीक बँटवारा कराना देश और समाज के हित से परमावश्यक है। उनके लिए सरकारी नौकरियों में दाख़िल हो जाना, मानो बहिश्त में पहुँच जाने के बराबर है। इसीलिए वे ज़ोर देते हैं कि सरकार लोगों को योग्यता और पटुता के आधार पर नहीं, किन्तु साम्प्रदायिक हिस्सारसदी के लिहाज़ से, नौकरियाँ दें।

ऊपर जो कुछ हमने कहा है, सम्भव है, उससे पाठकों को भ्रम हो जाय कि मैं सामाजिक जीवन में सरकारी नौकरियों के महत्त्व को नहीं समझता। जब देश के पूरे शासन की बागडोर देशवासियों के हाथ में आ जाय तब यह ज़रूरी होगा कि उसके संचालन का भार ऐसे हाथों में हो, जो योग्य और साथ

ही साथ कुशल हों। अकुशल, अयोग्य और बेईमाना हाथों में अगर यह बाग-डोर चली गई तो देश और समाज दोनों का अहित होकर रहेगा। सार्वजनिक नौकरियों के लिए उम्मीदवारों का चुनाव जितना महत्त्वपूर्ण है, उतना ही वह जटिल भी है। स्वर्गीय गोपाल कृष्ण गोखले इस बात पर ज़ोर दिया करते थे कि सार्वजनिक नौकरियों का प्रश्न न केवल साम्पत्तिक है किन्तु नैतिक भी है। जहाँ हम यह नहीं देख सकते कि हमारे देश में ऊँचे-ऊँचे पदों पर विदेशी आसीन रहें, वहाँ हम इस बात के भी समर्थक नहीं हैं कि किसी सम्प्रदाय-विशेष या समूह-विशिष्ट का सरकारी नौकरियों में एकाधिपत्य स्थापित हो जाय। प्रत्येक श्रेणी वर्ग या सम्प्रदाय के लोगों को, सार्वजनिक सेवा का समान अधिकार प्राप्त होना चाहिए। समाज-सेवा करने के लिए जो वेतन कर्मचारियों को दिये जाते हैं, उनके द्वारा राष्ट्रीय सम्पत्ति का जो वितरण होता है, उस वितरण का ढङ्गऐसा होना चाहिए कि समाजकी प्रत्येक श्रेणी उससे समान लाभ उठा सके। सरकारी नौकरियों का किसी वर्ग-विशेष या सम्प्रदाय-विशिष्ट की बपौती बन जाना ठीक नहीं। इस दृष्टि से यह आवश्यक है कि जिनके हाथों में सूबे के शासन की बागडोर हो, वे जहाँ सरकारी नौकरियों के लिए योग्य और कुशल आदमियों को चुनें, वहाँ उनका यह भी धर्म है कि वे इस बात से सतर्क रहें कि किसी सम्प्रदाय या वर्ग-विशेष के व्यक्ति अधिकांश सरकारी नौकरियों को न बटोर लें।

ऊपर कही गई बातों से दो सिद्धान्त निकलते हैं। एक तो यह कि सरकारी नौकरियों के लिए योग्यता के आधार पर व्यक्तियों को चुनना चाहिए; और दूसरा यह कि पहले सिद्धान्त की रक्षा करते हुए इस बात की चेष्टा करना परमावश्यक है कि सब विभागों में भरती होने के लिए सब श्रेणियों के लोगों को समान अवसर प्राप्त हो। यदि किसी कारण से समानता के इस सिद्धान्त को धक्का पहुँचे, तो उस बाधा को दूर करने के लिए राष्ट्र के संचालकों को प्रयत्न करना चाहिए।

आइए, इन दोनों सिद्धान्तों के आधार पर सरकारी नौकरियों के मसले के सम्बन्ध में इस सूबे में जो माँगें पेश की जा रही हैं, उनके ऊपर स्वस्थ और शान्त चित्त होकर हम विचार करें और देखें कि क्या कोई ऐसा रास्ता निकल सकता है, जिससे सब सम्प्रदाय के लोगों को यह आश्वासन हो जाय कि इस

सूबे में सबको सरकारी नौकरियों-द्वारा समाज-सेवा करने का समान अवसर सुगमता से प्राप्त है ?

यहाँ पर यह कह देना अनावश्यक न होगा कि सरकारी नौकरियों के प्रश्न के अनेक पहलू हैं। उन सब पहलुओं पर विचार करने का हमारा कोई इरादा नहीं। जैसा शीर्षक से प्रकट है, इस लेख में हम केवल सरकारी नौकरियों के साम्प्रदायिक बँटवारे ही पर विचार करेंगे, क्योंकि इसी के विषय में यहाँ मतभेद है; और इसी विषय को लेकर आजकल सूबे में बहुत गर्मागर्मी फैल रही है। अगर हम सरकारी नौकरियों और हिन्दी-उर्दू के मसलों को समझौते के साथ तय कर सकें तो जहाँ तक इस सूबे का सम्बन्ध है, मैं यह दावे के साथ कहने को तैयार हूँ कि साम्प्रदायिक विद्वेष की जो आग सूबे में भड़क रही है, वह यदि बिलकुल बुझ न गई तो प्रायः ठण्ढी हो जायगी।

इस सूबे की आबादी को लेकर, आइए, हम देखें कि इस सूबे के विभिन्न सम्प्रदाय के लोगों की संख्या क्या है ? इस सूबे में हज़ार आदमी के पीछे १४८ मुसलमान हैं, ४ ईसाई और १ अन्य जाति या धर्म के लोग। बाक़ी ८४७ हिन्दू हैं। शेड्यूल्ड कास्ट के लोगों या हरिजनों की संख्या, सूबे की आबादी के लिहाज़ से, लगभग २२ प्रतिशत है। इन आँकड़ों को पाठक कृपया ध्यान में रक्खें ताकि हम जो कुछ आगे निवेदन करने जा रहे हैं, उसका वास्तविक अर्थ वे आसानी से समझ सकें।

मुसलमानों की माँग है कि उन्हें सरकारी नौकरियों में ३० सैकड़ा जगहें मिलनी चाहिए, यद्यपि आबादी के लिहाज़ से वे १५ प्रतिशत से भी कम हैं। ईसाइयों की माँग है कि उनको १० सैकड़ा सरकारी नौकरियाँ दी जानी चाहिए, यद्यपि आबादी के लिहाज़ से वे हज़ार में केवल ४ हैं। ईसाई और मुसलमानों की माँगों को यदि आप जोड़ दें तो उसका फल यह होगा कि आबादी के लिहाज़ से जो केवल १५ सैकड़ा से कुछ अधिक हैं, उनको ४० सैकड़ा नौकरियाँ मिलने लगेंगी, और ८५% को केवल ६० सैकड़ा। हमारे हरिजन भाई सरकारी नौकरियों में २५% पद माँगते हैं। अगर मुसलमानों, ईसाइयों, और हरिजनों की माँग जोड़ दी जाय तो इसका यह अर्थ होगा कि जो लोग आबादी के लिहाज़ से ३७ प्रतिशत हैं उनको सरकारी नौकरियों का ६५ प्रतिशत भाग मिलना चाहिए

और सवर्ण हिन्दुओं को, जिनकी आबादी ६३ प्रतिशत है, सरकारी नौकरियों में इस हिसाब से केवल ३५%स्थान मिलेंगे। इन माँगों के औचित्य पर कृपया विचार कीजिए। मुसलमान भाई ३० सैकड़ा सरकारी नौकरियाँ चाहते हैं, यद्यपि आबादी में वे केवल १५ हैं। क्यों? इसलिए कि वे अपने को अल्पसंख्यक कहते हैं; और अल्पसंख्यकों की रक्षा, उनके विचार से, तभी सम्भव है जब सरकारी नौकरियों में उनकी संख्या ३० प्रतिशत हो। इस दावे को देखकर ग़ैरमुसलिमों को यह न समझना चाहिए कि इस सूबे के हमारे मुसलमान भाई अक्सरियत—बहुतता की राय से हुकूमत—के उसूल के हामी नहीं हैं। हामी हैं, लेकिन इस दृष्टिकोण से कि बहुसंख्यकों के कुछ अधिकार नहीं किन्तु केवल कर्तव्य होते हैं; और साथ ही साथ अक़लियत अर्थात् अल्पसंख्यकों के कोई फ़र्ज़ नहीं—कुछ कर्त्तव्य नहीं, उनके तो केवल अधिकार होते हैं। इन दोस्तों की निगाह में कमाने, टैक्स देने और शासन के भार को बरदाश्त करने का अधिकार तो प्राप्त है बहुसंख्यकों को; लेकिन अल्पसंख्यकों का महज़ फ़र्ज़ यह है कि वे बहुसंख्यकों के ऊपर हुकूमत करें।

हमारे ईसाई भाई भी आजकल मुसलमान दोस्तों की देखा-देखी बेसिर-पैर की माँगें पेश कर अपनी साम्प्रदायिक निष्ठा को सिद्ध करने में पूरी तेज़ी से आगे बढ़ रहे हैं। हमारे मुसलमान भाई तो आबादी के लिहाज़ से दूना प्रतिनिधित्व माँगते हैं, अथवा १०० के स्थान में सिर्फ़ २०० पद माँग कर संतोष कर लेते हैं। लेकिन ईसाई भाई अपनी न्याय-प्रियता में मुसलमानों को भी पीछे छोड़ जाते हैं। जहाँ उन्हें १०० स्थान मिलने चाहिए वहाँ वे सिर्फ़ २,००० की माँग पेश करते और उसके हासिल हो जाने पर हमें बख़्श देने को तैयार हैं। आबादी के लिहाज़ से सरकारी नौकरियों में हमारे ईसाई भाई जितने पदों के हक़दार हैं, उनसे महज़ २० गुनी अधिक की माँग उन्होंने पेश की है। ८५ को ६० और १५ को ४०, इनकी दृष्टि में समुचित है। लेकिन इतने ही से इन्हें सन्तोष नहीं हुआ।

हमारे ईसाई और मुसलमान भाई कौंसिलों और असेम्बलियों में आजकल हरिजनों के सबसे बड़े पृष्ठपोषक और हमदर्द बन गये हैं। कोई ऐसा मौक़ा वे हाथ से नहीं जाने देते, जब वे हरिजनों के प्रति अपनी सहानुभूति न

प्रदर्शित करें। मौक़े-बे-मौक़े हरिजनों के साथ वे हमदर्दी के आँसू बहाया करते हैं। लेकिन जहाँ एक तो अपने लिए द्विगुने पद चाहता है और दूसरा २० गुनी अधिक जगहें माँगता है, वहाँ हरिजनों के साथ उनकी इस हद तक सहानुभूति नहीं है कि वे २२ प्रतिशत के लिए २५ प्रतिशत से अधिक की माँग पेश करें। अपने लिए २० गुना माँगना भी थोड़ा है, लेकिन हरिजनों के लिए आबादी के लिहाज़ से जितने पदों के वे हक़दार हैं, उनमें कुछ थोड़ा-सा घेलौना—घलुवा—मिला देने से हरिजनों के जायज़ हक़ों की, इन मुस्लिम और ईसाई हमदर्दों के अनुसार, रक्षा हो जायगी। सार्वजनिक जीवन में मैंने ढोंग और ढकोसले के बहुत से उदाहरण देखे और सुने हैं, लेकिन हरिजनों के साथ सौतेली मा की-सी इस बनावटी हमदर्दी के सामने और सब ढोंग और ढकोसले तुच्छ हो जाते हैं!

(२)

हमारे मुसलमान मित्रों का ३० प्रतिशत का जो दावा है, उसके समर्थन में वे क्या दलीलें पेश करते हैं? किस सिद्धान्त पर वे अपनी इस माँग को जायज़ और उचित साबित करने की चेष्टा करते हैं? जहाँ तक मैं उनके नेताओं के भाषणों और लेखों से उनके विचारों को समझ सका हूँ, वहाँ तक मैंने उनकी माँगों के समर्थन में एक ही दलील पाई है; और वह दलील यह है कि जिस तरह उन्हें धारासभाओं में ३० प्रतिशत प्रतिनिधित्व मिला है, उसी तरह नौकरियों में भी उनको ३० प्रतिशत पद मिलने चाहिए। इसी एक दलील को मुसलमान नेता पेश किया करते हैं। इसके अलावा जो कुछ और कहा जाता है, वह सब निस्सार और अप्रासंगिक है। उसमें कुछ भी तुक नहीं है; क्योंकि इस सिद्धान्त को कि प्रत्येक सम्प्रदाय को सरकारी नौकरियों में उचित रूप से और उचित अंश में प्रतिनिधित्व मिले, हम सभी स्वीकार करते हैं। लेकिन प्रतिनिधित्व कितना हो, इस प्रश्न पर मतभेद है, और मतभेद का होना स्वाभाविक भी है। मुसलमान भाई जितना प्रतिनिधित्व चाहते हैं, क्या उनको उतना ही दे दिया जाय? जितना ईसाई भाई चाहते हैं, क्या उनको उतना ही मिलना चाहिए? उससे अधिक उन्हें क्यों न मिले, या उससे कम उन्हें क्यों न दिया जाय? इन बातों का निर्णय कौन करे? अल्पसंख्यकों की प्रत्येक माँग न तो

जायज़ हो सकती है, और न बहुसंख्यकों के प्रत्येक दावे सही हो सकते हैं। दोनों के दावे स्वार्थ, हठ और संकीर्णता से प्रेरित हो सकते हैं। किसी हिन्दू के लिए यह कहना कि मुसलमान और ईसाई भाइयों के दावे ग़लत हैं, ईसाई और मुसलमान भाइयों के दिल में यदि शक और सन्देह उत्पन्न करे तो कोई अचरज की बात न होगी। इसी तरह मुसलमान या ईसाई भाई इस सम्बन्ध में जो कुछ कहते हैं, उसे सुनकर यदि हिन्दू यह समझने लगें कि उनका दावा न्यायोचित नहीं तो कोई अचम्भे की बात नहीं। ऐसी दशा में प्रतिनिधित्व के परिमाण का निर्णय कैसे हो और कौन करे? दोनों को आपस में एक-दूसरे का विश्वास नहीं। दोनों एक-दूसरे से सशंकित हैं। दोनों, सम्भव है, एक-दूसरे के साथ ज़्यादती करने पर तुले हों। ऐसी दशा में समझौता कैसे हो? क्या कोई ऐसा मार्ग नहीं है, जिसके अनुसरण से इस सूबे के रहनेवाले किसी एक ऐसे निर्णय पर पहुँच सकें, जिससे सबको सन्तोष हो और कोई यह न समझे कि उसके साथ दूसरे ने अन्याय किया? समस्या जटिल ज़रूर है, लेकिन इतनी जटिल नहीं, जितनी वह देखने में मालूम होती है।

इसके पहले कि हम इस बात का विचार करें कि हमारे अल्पसंख्यकों की जो माँगें हैं उनमें कहाँ तक औचित्य की मात्रा है, आइए देखें कि इस समय हमारे सूबे में मुसलमान भाइयों को सरकारी नौकरियों में कहाँ तक प्रतिनिधित्व प्राप्त है। डिप्टी कलक्टरों में लगभग ४० फ़ी सदी, तहसीलदारों में ४४ फ़ी सदी, नायब तहसीलदारों में ३१ फ़ी सदी मुस्लिम हैं। पुलिस-विभाग में, डिप्टी सुपरिन्टेन्डेन्टों में २८ फ़ी सदी, इंस्पेक्टरों में ३० फ़ी सदी, हेड कांस्टेबिलों में ६४ फ़ी सदी, नायकों और कांस्टेबिलों में ४८ फ़ी सदी मुसलमान हैं। विटेनरी (पशु-चिकित्सा) विभाग में लगभग ५५ फ़ी सदी मुसलमान हैं। इसी तरह को-आपरेटिव विभाग में इनकी तायदाद ३० फ़ी सदी से अधिक मिलेगी। इन्कमटैक्स डिपार्टमेंट में इनकी तायदाद ३० फ़ी सदी है। प्रान्तिक जुडीशल डिपार्टमेंट में २५ फ़ी सदी मुसलमान हैं। २६ फ़ी सदी जेलर और ४८ फ़ी सदी डिप्टी जेलर मुसलमान हैं। रजिस्ट्रेशन विभाग में इंस्पेक्टरों में ३३ फ़ी सदी और सब-रजिस्ट्रारों में मुसलमान ४० फ़ी सदी हैं। कुछ विभाग ऐसे हैं जिनमें मुसलमानों की तायदाद कम है, लेकिन ऐसे बहुत इने-गिने विभाग निकलेंगे

जिनमें मुसलमानों की तायदाद १५ फ़ी सदी से कम निकले। ऊपर दिये गये आँकड़ों से यह साफ़ ज़ाहिर है कि जहाँ तक सरकारी नौकरियों का सम्बन्ध है वहाँ तक इस सूबे के मुसलमानों की शिकायत का कोई मौक़ा नहीं है। अगर शिकायत हो सकती है तो हिन्दुओं की हो सकती है कि मुसलमानों को इतना अधिक और उन्हें इतना कम हिस्सा मिला है। जब से कांग्रेस-सरकार' ने शासन की बागडोर अपने हाथ में ली तब से मुसलमानों एवं अन्य अल्पसंख्यकों को सरकारी नौकरियों में पद देने में बड़ी फ़ैयाज़ी और दरियायदिली से काम लिया है। अगर सरकारी फ़ाइलें प्रकाशित कर दी जायँ तो न सिर्फ़ इस सूबे में बल्कि हिन्दुस्तान के दूसरे सूबे में लोग चकित हो जायँगे, इस सूबे की सरकार की इस सम्बन्ध में उदारता को देखकर। अनुमान से यह कहा जा सकता है कि इस सूबे की निम्न-श्रेणी की नौकरियों को छोड़कर बाक़ी सब नौकरियों में मुसलमानों की संख्या २५ फ़ी सदी के लगभग होगी; और निम्न श्रेणी में ३० और ४० के बीच में निकलेगी। ऐसी दशा में कम से कम मुसलमान भाइयों को तो इस बात की शिकायत न होनी चाहिए कि सरकारी नौकरियों में उन्हें काफ़ी जगहें नहीं प्राप्त हैं। उन्हें धन्यवादपूर्वक इस सूबे की सरकार की उदारता को स्वीकार करना चाहिए। यदि ऐसा उन्हें करना मंज़ूर नहीं या इसे वे मुनासिब नहीं समझते तो कम से कम अपने स्वार्थ की दृष्टि ही से उन्हें ख़ामोश तो रहना ही था। मुझे दुःख है कि उन्होंने सब्र और समझ से काम नहीं लिया। इसका परिणाम यह होने लगा है कि हिन्दू चिल्लाने लगे हैं, और चारों तरफ़ से अब यह आवाज़ उठने लगी है कि हिंदुओं के साथ जो अन्याय हो रहा है, वह जल्द से जल्द बन्द कर दिया जाय। गड़े मुर्दे उखाड़कर मुसलमान दूसरों को सजग कर रहे हैं। क्या उनके लिए यह उचित होगा ?

यह तो हुई युक्तप्रांत की बात। आइए अपने पड़ोसी प्रान्त बिहार पर एक नज़र डालें। वहाँ मुसलमानों की संख्या आबादी के लिहाज़ से १२·८ है, लेकिन सरकारी नौकरियों में, कांग्रेसी सरकार ने २७·४ प्रतिशत रिक्त जगहों पर उनकी नियुक्ति की है। ये आँकड़े नीचे दिये गये हैं। ब्यौरे को ज़रा देखिए। इसे बिहार की कांग्रेस सरकार ने हाल ही में जनता की सूचना के लिए प्रकाशित किया था :—

विभिन्न पद		नियुक्ति-सं० का योग	मुस्लिम सं०
डिप्टी कलक्टर्स	...	१४	४
सब " "	...	१२	४
मुंसिफ़	...	४	१
अस्थायी डिप्टी कलक्टर जो पुनः नियुक्त हुए		१२	३
" सब " "	"	३	२
पुलिस-सर्विस में	...	१३	३
तरक्क़ी देकर भरी गई अस्थायी जगहें			
मेडिकल सर्विस	...	२	१
" सबार्डिनेट	...	७	२
एज्युकेश्नल सर्विस	...	१२	५
इन्फ़ार्मेशन आफ़िसर	...	१	१
पब्लिसिटी " उर्दू-सेक्शन	...	१	१
इन्फ़ार्मेशन आफ़िस आफ़िसर	...	६	२
चीफ़ सेक्रेटरी मिनिस्ट्रियल स्टाफ़		१०	३
लेजिस्लेचर "		२७	४
पब्लिक-वर्क्स	...	४४	८
गवर्नमेंट-प्रेस	...	२६	९
जेल-विभाग	...	१२	३
सर्वे-आफ़िस	...	१२	५
अग्रिकल्चर डिपार्टमेंट, असिस्टेंट डाइरेक्टर आफ़ अग्रिकल्चर, अस्थायी		५	१
असिस्टेंट डाइरेक्टर आफ़ अग्रिकल्चर, तरक्क़ी में,		१८	३
कृषि-कालेज, कानपुर के लिए वज़ीफ़ा पानेवाले		१	१
असिस्टेंट शुगर केमिस्ट	...	४	१
सब रजिस्ट्रार	...	६	१

विभिन्न पद		नियुक्ति-सं० का योग	मुस्लिम सं०
को-आपरेटिव सर्विस की केवल तीन नई नियुक्तियाँ सबार्डिनेट		११३	२६
	आफ़िस आफ़ डिस्ट्रिक्ट जजेज़		
पूर्नियाँ	...	१६	५
दरभङ्गा	...	१६	८
गया	...	१०	४
मुँगेर	...	३७	५
सारन	...	३८	१०
पटना	...	२२	६
मुज़फ़्फ़रपुर	...	१७	४
भागलपुर	...	२३	६
सेक्रेटरी लीगल एज्युकेशन-कमेटी		३	२
लॉरिपोर्टर हाईकोर्ट	...	१	१
	आफ़िस आफ़ इन्स्पेक्टर आफ़ वायलेर्स		
कलक्टरेट	...	१	१
मुज़फ़्फ़रपुर टेम्पररी	...	२	१
प्रोवेशनर्स	...	१५	४
मुंगेर	...	५	१
शाहाबाद	...	५	१

ऊपर का ब्यौरा इस बात का गवाह है कि बिहार में कांग्रेसी गवर्नमेंट मुसलमानों के साथ बेहद उदारता का व्यवहार कर रही है। लेकिन मुस्लिम लीग के पटनेवाले अधिवेशन में मुसलमान नेताओं ने बिहार की गवर्नमेंट के ऊपर संकीर्णता का झूठा इल्ज़ाम लगाया। मुझे दुःख है कि अगर मुस्लिम लीग और उसके बहकाने में पड़कर हमारे मुस्लिम भाई इसी तरह ऊल-जलूल बातें करते रहे तो बहुत सम्भव है कि उसकी प्रतिक्रिया उनके लिए अनिष्टकर साबित हो। राजनीति में कृतघ्नता का सिद्धान्त बड़ा भयानक सिद्ध होता है। दूसरों की उदारता के प्रति कृतज्ञता को प्रकट करना, न केवल नैतिक दृष्टियों से उपयोगी है,

किन्तु अपने स्वार्थ-सिद्धि के लिए इससे बढ़कर दूसरा साधन मिलना कठिन है। इस भूल की ज़िम्मेदारी मुसलमान जनता पर नहीं; दोष है उनके नेताओं का, जो उन्हें जान-बूझकर झूठी-सच्ची बातें सुनाते और इस प्रकार उनमें कांग्रेस के ख़िलाफ़ विद्वेष की आग भड़काने की कोशिशें करते हैं।

(३)

ऊपर जो कुछ कहा गया है उससे तो मसला हल होता नहीं दिखाई देता। ज़रूरत है सिद्धान्तों के निर्णय करने की। उसी पर अब हम विचार करेंगे। इस समस्या का हल होना दुस्तर है, यदि हम युक्तप्रान्त ही पर अपनी नज़र गड़ाये रहेंगे; क्योंकि जहाँ साम्प्रदायिक अविश्वास और सन्देह का वातावरण फैल रहा है, वहाँ बँटवारे के उसूलों का समझौते से तय होना आसान नहीं। कांग्रेसी सरकारों की नेकनीयती पर हमला करना आजकल एक फ़ैशन-सा हो गया है। राह चलता हुआ मुसाफ़िर भी उनको गाली देकर अपनी आज़ादी-परस्ती का सबूत दे देना चाहता है। मुस्लिम लीगवालों ने यह खुला इल्ज़ाम लगाया है कि वे न सिर्फ़ अपने-अपने सूबों के अल्पसंख्यकों के साथ अन्याय कर रही हैं, बल्कि उन्हें हर तरीक़े से नष्ट-भ्रष्ट कर मिटा देने पर तुली बैठी हैं। इसलिए, कांग्रेसी सूबों में सरकारी नौकरियों के सम्बन्ध में जो नीति निर्धारित की गई है, उसकी दोहाई देना या उसको इस सूबे के लिए अपनाना मुनासिब न होगा। मुस्लिम लीगवालों की राय में तो कांग्रेसी सूबों में तुक की एक बात का भी ढूँढ़ निकालना बिलकुल ही नामुमकिन है। उनके कथनानुसार, कांग्रेस का बाना तो बेइन्साफ़ी का बाना है। इसलिए, आइए, हम उन सूबों को लें, जहाँ पर मुस्लिम लीग के प्रतिनिधियों के हाथ में शासन की बागडोर है।

चलिए, युक्तप्रान्त के बाहर चलें और देखें कि पंजाब और बंगाल की स्वाधीन सरकारों ने इस मसले पर क्या फ़ैसला किया है या क्या करने का उनका इरादा है? पंजाब में सर सिकन्दरहयात की गवर्नमेंट है और बंगाल के प्रधानमंत्री के पद पर मि० फ़ज़लुलहक़ आसीन हैं। दोनों ही मौक़े-बे-मौक़े इस बात का ढिंढोरा पीटते रहते हैं कि वे अपने-अपने सूबे में अल्पसंख्यकों के साथ बेहद रियायतों और फ़य्याज़ी के साथ पेश आ रहे हैं। वे उपदेश देते हैं कि कांग्रेसी सूबों की सरकारों को उन्हीं की अल्पसंख्यक-सम्बन्धी नीति का आँख बन्द कर

अनुसरण करना चाहिए। वे मुक़ाबला करते हैं अल्पसंख्यकों के प्रति अपनी उदारता का, कांग्रेसी सरकारों की मन-गढ़ंत अनुदारता के साथ! इस सूबे के हमारे मुसलमान भाई भी पंजाब और बंगाल के वज़ीर-आज़मों के इस दावे का समर्थन करते हैं। ऐसी दशा में, जो पंजाब या बंगाल में नौकरियों के मामले में अल्पसंख्यकों को अधिकार दिये गये हैं, उनका हम विवेचन करें और देखें कि बंगाल या पंजाब ने अपने-अपने हिन्दुओं और सिक्खों या ईसाइयों के साथ कैसा व्यवहार किया है। यदि युक्तप्रान्त के मुसलमानों और ईसाइयों के साथ उसी के अनरूप व्यवहार किया जाय, तो मुझे पूर्ण विश्वास है कि हमारे सब मुस्लिम लीगर्स हमें शाबाशी देंगे; क्योंकि वे तब यह न कह सकेंगे कि पंजाब या बंगाल में अल्पसंख्यकों के साथ उनके भाई-बन्धु जो व्यवहार कर रहे हैं, वह तो ठीक है; लेकिन अगर वही व्यवहार इस सूबे के अल्पसंख्यक सम्प्रदायों के साथ किया जाय तो वह अनुचित होगा। २७ अगस्त सन् १९३८ को मि० फ़ज़लुलहक़ की पार्टी के एक सदस्य ने बङ्गाल की धारा-सभा में एक प्रस्ताव पेश किया था, जिसमें सरकार से यह सिफ़ारिश की गई थी कि सरकारी नौकरियों में,

मुसलमानों को	...	६० प्रतिशत
हरिजनों को	...	२० ”
और दूसरे सम्प्रदायों को	...	२० ”

जगहें दी जायें। इस प्रस्ताव का समर्थन श्री फ़ज़लुलहक़ की पार्टी ने एक स्वर से किया। याद रखिए कि पार्टी में मुसलमानों की अधिक संख्या है, लेकिन उसमें वे योरपियन, ऐंग्लो-इण्डियन और ईसाई भी शामिल हैं, जो बङ्गाल धारा-सभा के सदस्य हैं। कुछ हरिजन भी इस पार्टी में हैं। अतएव यह कहना ग़लत न होगा कि इस प्रस्ताव का समर्थन बङ्गाल के मुसलमानों, योरपियनों, ऐंग्लो-इण्डियनों, ईसाइयों और हरिजनों के प्रतिनिधियों ने किया। इस प्रस्ताव की माँगों को आबादी की कसौटी पर हमें कसना और देखना चाहिए कि किन सिद्धान्तों पर यह सिफ़ारिश अवलम्बित है। क्या इन माँगों के पीछे कोई सिद्धान्त भी है या साम्प्रदायिकता की सहज लोलुपता ही इसकी प्रेपक है? बङ्गाल की आबादी में,

मुसलमान	...	५५ प्रतिशत,
हरिजन	...	१८ ,,
सवर्ण हिन्दू	...	२५ ,, और
अन्य अर्थात् ईसाई, सिक्ख, और बौद्ध आदिक	...	२ प्रतिशत हैं।

मुसलमान आबादी के लिहाज़ से वहाँ ५५ प्रतिशत हैं, लेकिन प्रस्ताव के अनुसार सरकारी नौकरियों में उनका हक़ ६० प्रतिशत होना चाहिए। इससे यह निष्कर्ष निकला कि बङ्गाल के मुसलमानों की राय में अक्सरियत—बहुसंख्यक समुदाय—को आबादी के लिहाज़ से जितने पद मिलने चाहिए, उतने से अधिक देना न तो अनुचित है और न न्यायघातक। दूसरा सिद्धांत, जो इस प्रस्ताव से निकलता है, यह है कि जो अल्पसंख्यक हैं उनको सरकारी नौकरियों में उतना हिस्सा भी न मिलना चाहिए जितने के वे आबादी के आधार पर पाने के अधिकारी हैं। तभी तो सवर्ण हिन्दुओं को जो २५ प्रतिशत हैं और अन्य जो २ प्रतिशत हैं, अर्थात् दोनों को मिलाकर जो २७ प्रतिशत हैं, उनके लिए सरकारी नौकरियों में कुल २० प्रतिशत जगहें सुरक्षित करने की सिफ़ारिश की गई है। याद रहे कि इस प्रस्ताव का मुसलमानों, ईसाइयों, अँगरेज़ों और हरिजनों ने समर्थन किया। हाँ, उन्होंने केवल हरिजनों के लिए १८ के स्थान में २० जगहों के सुरक्षित करने की सिफ़ारिश की।

आइए, बङ्गाल के इस प्रस्ताव के सिद्धान्तों को ठीक मानकर हम अपने सूबे की समस्या पर विचार करें। बङ्गाल में ५५ प्रतिशत मुसलमानों को जब ६० प्रतिशत नौकरियाँ मिलनी चाहिए तब युक्तप्रान्त के ८५ प्रतिशत हिन्दुओं को लगभग ९३ प्रतिशत सरकारी नौकरियाँ देना उचित है। जब २७ प्रतिशत सवर्ण हिन्दुओं और अन्य सम्प्रदायवालों को २० प्रतिशत सरकारी नौकरियों का बङ्गाल में प्रस्ताव किया गया है तो उसी हिसाब से १५ प्रतिशत मुसलमान और ईसाइयों को इस सूबे में ११ प्रतिशत से अधिक स्थानों का देना इस उसूल से सरासर अन्याय होगा। कहाँ ४० प्रतिशत और कहाँ ११ प्रतिशत! हमारे मुसलमान भाई यह बताएँ कि क्या वे चाहते हैं कि जिन सिद्धान्तों पर बङ्गाल में इस व्यवस्था के करने का प्रस्ताव किया गया है, उन्हीं सिद्धान्तों पर इस

मसले का निर्णय इस सूबे में भी कर दिया जाय ? यदि नहीं, तो क्यों ? क्या वे यह मानने के लिए तैयार हैं कि बङ्गाल की मुस्लिम लीग पार्टी अपने अल्प-संख्यकों के साथ जो कुछ करने जा रही है, वह न्यायोचित है ? यदि हाँ, तो फिर हमारे सूबे के मुसलमानों को कोई शिकायत नहीं हो सकती, यदि उन्हें और ईसाइयों के लिए इस सूबे में सरकारी नौकरियों का ११ प्रतिशत हिस्सा सुरक्षित कर दिया जाय ?

बङ्गाल का फार्मूला, सम्भव है, इस सूबे के मुसलमान और ईसाई भाइयों को न भाये तो, आइए, गवर्नमेंट आफ़ इण्डिया ने इस सम्बन्ध में जिस नीति का अवलम्बन किया है, उस पर हम विचार करें और देखें कि गवर्नमेण्ट आफ़ इण्डिया के सन् १९३४ वाले प्रस्ताव के सिद्धान्तों के अनुसार इस सूबे के हमारे मुसलमान और ईसाई भाइयों को प्रान्त की सरकारी नौकरियों में क्या प्रतिनिधित्व मिल सकता है। गवर्नमेंट आफ़ इण्डिया ने उन नौकरियों के विषय में, जो उनके अधीन हैं, १९३४ में साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व के बारे में अपना मन्तव्य प्रकाशित किया था। उस मन्तव्य के अनुसार मुसलमानों के लिए कम से कम २५ प्रतिशत जगहें सुरक्षित रक्खी गई हैं। यह संरक्षण केवल नई भरती के विषय में है। एक पद से दूसरे पद पर तरक़्क़ी के सम्बन्ध में यह अनुपात लागू न होगा। यदि आज किसी विभाग में मुसलमानों की संख्या कम है और किसी में उनकी संख्या अधिक है, तो उसका कुछ भी लिहाज़ न किया जायगा। दोनों ही विभागों में, जैसे-जैसे जगहें ख़ाली होती जायेंगी, वैसे-वैसे सिर्फ़ उन्हीं रिक्त पदों में २५ प्रतिशत पद मुसलमानों के लिए सुरक्षित रहेंगे। जो भरती होगी, वह पब्लिक सर्विस कमीशन के इम्तहान द्वारा की जायगी। उस इम्तहान में अगर २५ प्रतिशत से ज़्यादा मुसलमान कामयाब होते हैं, तो उनको ज़्यादा स्थान मिल जायँगे और यदि कम होते हैं, तो उस कमी को पूरा करने के लिए कुछ मुसलमानों की नामज़दगी कर दी जायगी। यह बात ध्यान में रहे कि सारे हिन्दुस्तान में मुसलमानों की आबादी २५ प्रतिशत से कुछ अधिक है। अर्थात्, गवर्नमेंट आफ़ इण्डिया ने मुसलमानों के लिए कम से कम उतने ही प्रतिशत स्थानों का संरक्षण आवश्यक समझा जितने के वे आबादी के आधार पर हक़दार हैं। इस हिसाब से इस सूबे में मुसलमानों के लिए १५ प्रतिशत स्थानों का

संरक्षण कर देना, मुनासिब होगा। गवर्नमेंट आफ़ इण्डिया ने मुसलमानों को अपनी नौकरियों में उतने प्रतिशत स्थान नहीं दिये, जितने प्रतिशत उन्होंने केन्द्रीय अथवा धारा-सभा में मुसलमान सदस्यों की संख्या निर्धारित की है। उदाहरण के लिए, केन्द्रीय एसेम्बली में मुसलमान प्रतिनिधियों की संख्या ३३·३३ प्रतिशत रक्खी गई है, लेकिन नौकरियों में महज़ २५ प्रतिशत। गवर्नमेंट आफ़ इण्डिया ने मुसलमान भाइयों के इस दावे को स्वीकार नहीं किया कि जिस हिसाब से धारा-सभा में प्रतिनिधित्व दिया गया है, उसी हिसाब से सरकारी नौकरियों में भी उन्हें हिस्सा मिलना चाहिए। यदि गवर्नमेंट आफ़ इण्डिया ने इस दलील को मान लिया होता, तो मुसलमानों के लिए उसे अपनी नौकरियों में २५ नहीं, बल्कि ३३·३३ के हिसाब से स्थान सुरक्षित करना चाहिए था। गवर्नमेंट आफ़ इण्डिया ने इस सम्बन्ध में जो निर्णय किया, उससे दो सिद्धान्त निकलते हैं :—

१—धारा-सभाओं में प्रतिनिधित्व से नौकरियों में प्रतिनिधित्व का कोई सम्बन्ध नहीं।

२—सम्प्रदाय-विशेष को सरकारी नौकरियों में कम से कम उतने स्थान देने का प्रबन्ध कर देने की ज़रूरत है जितने स्थान पाने की वह आबादी के लिहाज़ से हक़दार है।

विरोध करेगी। अतएव गवर्नमेंट आफ़ इण्डिया का यह फ़ैसला मुसलमानों के आग्रह पर हुआ है। इस फ़ैसले में जो सिद्धान्त स्वीकृत हुए हैं, उन सिद्धान्तों को मुसलमानों ने स्वीकार कर लिया है। फिर कोई वजह नहीं मालूम होती कि ब्रिटिश भारतवर्ष के लिए जो सिद्धान्त हमारे मुसलमान भाइयों ने सही माने, उन्हीं सिद्धान्तों को वे इस सूबे के लिए क्यों अहितकर समझें? तो फिर क्या, केन्द्रीय नौकरियों के हिसाब से, सूबे के मुसलमान भाइयों के लिए उतने ही स्थान सुरक्षित कर दिये जायँ जितने के वे आबादी के आधार पर भागी हैं?

इसी सिलसिले में आइए, देखें कि क्या बङ्गाल और पञ्जाब की गवर्नमेंटों ने अपने-अपने सूबे के लिए धारा-सभाओं और नौकरियों में समान प्रतिनिधित्व के सिद्धान्त को स्वीकार किया है? बंगाल की एसेम्बली में मुसलमानों को ४६ फ़ी सदी प्रतिनिधित्व दिया गया है, यद्यपि आबादी के लिहाज़ से उनकी संख्या ५५ फ़ी सदी है। लेकिन बङ्गाल की गवर्नमेंट ने मुसलमानों के लिए सरकारी नौकरियों में उतना हिस्सा नहीं दिया, जितना उन्हें एसेम्बली में प्राप्त है। आबादी के लिहाज़ से ५५ फ़ी सदीवाली जमात को साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व बंगाल की धारासभा में ४६ फ़ी सदी और सरकारी नौकरियों में ६० फ़ी सदी प्राप्त है और होगा। इसी तरह पंजाब में मुसलमानों की आबादी ५७ फ़ी सदी है और धारासभाओं में उनको ४८ फ़ी सदी प्रतिनिधित्व मिला है। सरकारी नौकरी में उन्होंने अपने लिए ५० फ़ी सदी पद लेना मुनासिब समझा। इन बातों से यह साफ़ ज़ाहिर है कि तीनों ही ग़ैरकांग्रेसी सरकारों ने युक्तप्रान्त के मुसलमानों के इस दावे को उचित नहीं क़रार दिया कि किसी सम्प्रदाय-विशेष को सरकारी नौकरियों में उतना हिस्सा दिया जाय, जितना उसे धारासभा में प्राप्त है। बंगाल और पंजाब के हिन्दू या ईसाइयों को भी वहाँ की मुस्लिम लीगी सरकारों ने नौकरियों में उतने पद नहीं दिये जितने उन्हें धारासभाओं में प्रतिनिधित्व के आधार पर मिलते। यह विचारणीय बात है कि क्यों युक्तप्रान्त में बंगाल, पंजाब या भारत की गवर्नमेंटों के द्वारा स्वीकृत सिद्धान्तों की अवहेलना की जाय और क्यों यहाँ पर उनके विपरीत एक ऐसा निर्णय किया जाय जिससे अल्पसंख्यकों की माँगों को पूरा करने की वजह से बहुसंख्यकों को शिकायतों का मौक़ा मिले?

गवर्नमेंट आफ़ इंडिया ने मुसलमानों के अतिरिक्त अन्य सम्प्रदायों के लिए भी अपनी नौकरियों में न्यूनतम स्थानों का संरक्षण किया है। ऐंग्लो-इंडियनों को छोड़कर, बाक़ी सम्प्रदायों और जातियों के लिए, जिनकी आबादी सन १९३१ में ६·४ और बर्मा के पृथक् हो जाने के बाद ५ हो गई, उनके लिए उसने ६ प्रतिशत स्थान सुरक्षित किये हैं। ऐंग्लो-इंडियनों के लिए उन्होंने विशेष पक्षपात से काम लिया है। इस पक्षपात को देखकर किसी को अचरज न होना चाहिए, क्योंकि ब्रिटिश सरकार जब अखिल भारतीय नौकरियों में अंगरेज़ों के लिए ४० या ५० प्रतिशत स्थान सुरक्षित कर सकती है तब ऐंग्लो-इंडियनों के साथ पक्षपात करना उनके लिए कोई असम्भव बात नहीं। लेकिन इस मुल्क में दूसरी जातियों के लिए, जिनमें पारसी, ईसाई, बौद्ध और जैन आदि शामिल हैं, इसने ६ प्रतिशत नौकरियाँ सुरक्षित की हैं, जब आबादी में उनकी संख्या लगभग ५ के बराबर है। यानी, आबादी को देखते हुए, नौकरियों में भी इसने उनको २० सैकड़ा विशेषाधिकार दिया है। हमारे सूबे में ऐसी जातियों की संख्या में २०० में १ है। गवर्नमेंट आफ़ इंडिया के सिद्धान्तों के अनुसार इन अन्य जातियों को आबादी के आधार से २० सैकड़ा अधिक नौकरियाँ मिल जानी चाहिए। कहाँ गवर्नमेंट आफ़ इंडिया के मन्तव्य के अनुसार अन्य सम्प्रदायवालों को इस सूबे में १० हज़ार में १२ पद मिलने चाहिए और कहाँ इस सूबे में इन सम्प्रदायों के प्रतिनिधियों की १० हज़ार में एक हज़ार की माँग! क्या हमारे ईसाई प्रतिनिधि गवर्नमेंट आफ़ इंडिया के इस निर्णय को स्वीकार करेंगे? यदि नहीं, तो क्यों?

कांग्रेस को भी अपने सूबे के अल्प-संख्यकों की माँगों को पूरा करना चाहिए। पंजाब के विभिन्न सम्प्रदायों की आबादी निम्न प्रकार है—

मुसलमान ... ५० प्रतिशत;
हिन्दू ... २७ " ;
सिक्ख ... २० " और
अन्य—ईसाई, आदिक ३ "

नौकरियों का विभाजन वहाँ पर जिस तरह किया गया है उसे ब्योरेवार हम नीचे देते हैं :—

मुसलमानों को ... ५१ प्रतिशत;
हिन्दुओं को ... २६ ,, और
सिक्खों, ईसाईयों आदि को २० ,,

ऊपर हमने जो ब्यौरा दिया है, वह उन मुसलमान नेताओं के कथन के आधार पर दिया है जिनको पंजाब के हालात की काफ़ी जानकारी है। लेकिन एक हिन्दू मित्र ने सरकारी नौकरियों के सम्बन्ध में जो अनुपात भेजा है उसे भी हम नीचे दे रहे हैं :—

मुसलमानों को ... ५० प्रतिशत;
सिक्खों को ... २० ,, और
हिंदू, ईसाई आदि को ३० ,,

वहाँ हिंदू और ईसाइयों की संख्या मिलाकर ३० प्रतिशत है। सर सिकन्दर हयात ने ३० प्रतिशतवाले अल्पसंख्यकों को नौकरियों में उतनी ही जगहें दी हैं, जितने स्थानों के वे आबादी के लिहाज़ से हक़दार थे। जो मुसलमान वहाँ पर ५७ प्रतिशत हैं, उन्हें ५० प्रतिशत मिला है और सिक्खों को जो १३ प्रतिशत हैं, २० प्रतिशत दिया गया है। इस हिसाब से यदि पंजाब में मुसलमानों को, आबादी में सिर्फ़ ५७ प्रतिशत होते हुए भी; ५० या ५१ प्रतिशत नौकरियाँ दी जाती हैं, तो युक्तप्रान्त के हिंदुओं को, जिनकी संख्या ८५ फ़ी सदी है ७४'५ या ७६ फ़ी सदी जगहें दी जायँ, और ईसाई और मुसलमानों को उसी अनुपात से स्थान इस सूबे में दिये जायँ, जिस अनुपात से पंजाब में ईसा-

इयों और हिंदुओं को दिये गये हैं। जो शेष स्थान बचें, उन्हें, मेरी राय में, उस संख्या में जोड़ देना चाहिए, जिसके—आबादी के लिहाज़ से—हरिजन अधिकारी हैं। इस तरह से युक्तप्रान्त में—

हरिजनों को	...	३२ प्रतिशत;
सवर्ण हिंदुओं को	...	५३ ,, और
मुसलमान तथा ईसाइयों को		१५ ,,

जगहें इस सूबे में मिलनी चाहिए।

(५)

ऊपर जो कुछ कहा गया है, उसका निष्कर्ष हम संक्षेप में पाठकों के सामने उनके मनोरंजनार्थ निकालकर रख देना चाहते हैं। बङ्गाल में अल्प-संख्यकों को आबादी के लिहाज़ से कम जगहें दी गई हैं और बहुसंख्यकों को आबादी से ज़्यादा स्थान देने का प्रस्ताव किया गया है। गवर्नमेंट आफ़ इण्डिया ने अपने निर्णय में आबादी के आधार को नौकरियों के विभाजन में ठीक समझा। पंजाब ने बहुसंख्यकों को आबादी के देखते हुए कुछ कम नौक-रियाँ दी हैं, लेकिन जहाँ उन्होंने एक अल्प-संख्यक सम्प्रदाय के साथ उदारता दिखाई वहाँ उन्होंने सिक्खों को छोड़कर हिंदुओं तथा अन्य सम्प्रदायवालों के साथ रिआयत करना उचित नहीं समझा। यदि पंजाब का पहला फार्मूला सही हो तो हमें स्वीकार करना पड़ेगा कि वहाँ बहुसंख्यकों को कम देकर अल्प-संख्यकों को आबादी के आधार से कुछ अधिक दिया गया है; यानी वहाँ ५७ प्रतिशत मुसलमानों को ५१ प्रतिशत स्थान देकर २७ प्रतिशत हिंदुओं को स्थान २९ प्रतिशत और १६ प्रतिशतवाले अन्य अल्प-संख्यकों को (सिक्ख १३ अन्य सम्प्रदाय ३) को २० प्रतिशत दिये गये हैं। इस तरह से युक्तप्रान्त में भी ईसाइयों, ऐंग्लो इंडियनों, सिक्खों, बौद्धों, पारसियों तथा मुसलमानों को, जिनकी सम्मिलित संख्या १५ प्रतिशत से कुछ अधिक है, २० प्रतिशत सरकारी नौकरियों में स्थान सुरक्षित कर देना चाहिए।

अब हम अपनी ओर से कुछ कहने की ज़रूरत नहीं समझते। ईसाई, मुसलमान, सिक्ख प्रभृति अल्प-संख्यक सम्प्रदायों के प्रतिनिधियों को चाहिए कि

वे हमें बताएँ कि वे किस आधार पर इस सूबे में सरकारी नौकरियों में साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व का फ़ैसला कराना चाहते हैं ? वे बंगाल के सिद्धान्त को स्वीकार करना चाहते हैं या पंजाब के या भारत-सरकार के ? तीनों ही ग़ैर-कांग्रेसी सरकारें हैं। दो में तो मुस्लिम लीगवालों का प्राधान्य है। पंजाब और बंगाल के प्रधान मन्त्री मुस्लिम लीग के मुख्य स्तम्भ माने जाते हैं। उन्होंने अपने-अपने सूबे में अल्पसंख्यक सम्प्रदायवालों के लिए जो निर्णय किया है, क्या उन निर्णयों में निहित सिद्धान्तों को हमारे सूबे के अल्प-संख्यक सम्प्रदायवाले अपनाना ठीक समझते हैं ? इस प्रश्न का निर्णय हम अपने दोस्तों के ऊपर छोड़ देना चाहते हैं। उनके फ़ैसले को हम मान लेने को तैयार हैं, क्योंकि उस दशा में वे फिर यह न कह सकेंगे कि हमने जान-बूझकर उनके साथ अनौचित्य का व्यवहार किया।

जिस प्रश्न पर ऊपर विचार किया गया है, उस प्रश्न का एक पहलू और भी है। क्या सब प्रकार की नौकरियों में, एक ही सिद्धान्त के अनुसार भरती करने की ज़रूरत होगी ? कई विभाग ऐसे हैं जिनमें विशेषज्ञों की आवश्यकता होती है। उदाहरण के लिए, इंजीनियरिंग को ले लीजिए। यदि किसी समुदाय-विशेष में पर्याप्त संख्या में योग्य व्यक्ति न मिलें, तो क्या इस कमी को दूसरे विभागों से उस समुदाय-विशेष के व्यक्तियों को अधिक संख्या में लेकर पूरी कर दी जाय ? सरकारी नौकरियों को साधारण रूप से हम पाँच भागों में विभाजित कर सकते हैं:—

१—गज़टेड सर्विसेज़
२—नान गज़टेड ,,
३—सुपीरियर सर्विसेज़
४—सबार्डिनेट ,,
५—इन्फ़ीरियर ,,

मेरी राय में जो कुछ भी अनुपात सरकारी नौकरियों में साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व के बारे में निश्चित हो, वह सिर्फ़ पहली तीन श्रेणियों की नौकरियों के विषय में लागू होना चाहिए। परन्तु चौथी और पाँचवीं श्रेणी में आबादी के आधार ही पर प्रत्येक समुदाय को नौकरी देना उचित होगा; क्योंकि इन पदों के

कर्मचारियों पर नीति के संचालन का दायित्व नहीं होता। अतएव इनका तो केवल साम्पत्तिक दृष्टि ही से विभाजन होना चाहिए। चपरासी, चाहे हिन्दू हो या मुसलमान, वह चपरासी ही है। वह हाकिम नहीं। वह हुकूमत नहीं कर सकता। क्या इनकी नियुक्ति प्रान्तिक अनुपात से लगाई जाय? इन प्रश्नों पर यहाँ विचार करने की आवश्यकता नहीं है। हाँ, कहा जा सकता है कि नम्बर १ से ३ तक की श्रेणियों की नौकरियों की हालत भिन्न है। उनके ऊपर दायित्व भी है। शासन में भाग लेने और उसके द्वारा समाज की सेवा करने में सब सम्प्रदायों के व्यक्तियों को समान अवसर मिलना चाहिए। इन तीनों श्रेणियों की नौकरियों का न केवल साम्पत्तिक पहलू है, किन्तु उनका शासनाधिकार से भी सम्बन्ध है।

इनके बँटवारे का, प्रश्न हो सकता है, क्या आधार हो? इसके विषय में, जैसा हम ऊपर कह चुके हैं, मैं अपनी ओर से कुछ नहीं कहना चाहता। अल्पसंख्यकों के जो नेता हैं, जिनको उनकी ओर से बोलने का अधिकार है, और उनकी तरफ़ से समझौता करने का जो दावा करते हैं, उनका यह धर्म है कि वे दिल खोलकर हमें बतायें कि वे क्या चाहते हैं? अभी तक उन्होंने जो माँगें पेश कीं, वे पंजाब, बंगाल और केन्द्रीय सरकार के निर्णय के सामने असंगत और बेबुनियाद साबित हुई हैं। कोई वजह नहीं मालूम होती कि युक्तप्रान्त के बहुसंख्यकों के साथ क्यों इतना अन्याय किया जाय, जितना न बंगाल या पंजाब ने अपने बहुसंख्यकों के साथ करने की जुर्रत की। क्या कोई यह कहने का दावा करेगा कि युक्तप्रान्त में बहुसंख्यकों के कोई अधिकार नहीं और बंगाल या पंजाब के अल्पसंख्यकों के कोई स्वत्व नहीं? यदि युक्तप्रान्त के बहुसंख्यकों का अपने अल्पसंख्यकों के प्रति कुछ कर्तव्य है तो इस सूबे के अल्पसंख्यकों का भी अपने बहुसंख्यकों के प्रति कुछ फ़र्ज़ है। कर्त्तव्यरहित न कोई अधिकार है, और न अधिकारविहीन कर्त्तव्य। हमें कोई शिकायत नहीं, यदि हमारे अल्पसंख्यक अपने अधिकारों की ओर बहुसंख्यकों के कर्त्तव्यों पर ज़ोर देते या उनकी याद बराबर दिलाया करते हैं। ऐसा करने का उन्हें पूरा अधिकार है। उनका ऐसा करना धर्म भी है। लेकिन साथ ही साथ यह भी उनको स्वीकार करना पड़ेगा कि जहाँ उनके अधिकार हैं तहाँ उनके कुछ कर्त्तव्य

भी हैं। अधिकारों ही को याद रखनां और उन्हीं की याद दिलाना जहाँ मुनासिब है वहाँ कर्त्तव्यों को भूल जाना या नज़रन्दाज़ कर देना न उनके लिए हितकर है और न सबके लिए लाभकारी सिद्ध हो सकता है। न उन्हें भूलना चाहिए—और न हमें भूलना चाहिए—कि मनमुटाव होते हुए भी हमें और उन्हें, हम सबको, जो इस मुल्क में पैदा हुए हैं, इसी मुल्क में रहना और इसी मुल्क में मरना है। हम सबके ऊपर इस बात की ज़िम्मेदारी है कि आपसी बातों को लेकर कोई ऐसा वचन न बोलें और न कोई ऐसा काम करें, जिससे आपसी मनमुटाव बढ़े या शान्ति की जगह पर संघर्ष का बोलबाला हो। हठधर्मी से तो हमें काम नहीं लेना है। हमें विश्वास है कि अल्पसंख्यक सम्प्रदायों के लोग भी हठधर्मी से काम नहीं लेना चाहेंगे। हमारी यह नीयत है कि आपस के झगड़े जल्द से जल्द मिट जायँ, मिटा दिये जायँ, ताकि यह सूबा हिन्दुस्तान में अन्य सूबों के मुक़ाबले में उन्नतिशील हो, ताकि यहाँ की ग़रीबी, यहाँ की दीनता, जितनी जल्दी मिट सके मिट जाय, और इस सूबे का नाम उसी तरह से रोशन हो जाय जैसे इसका नाम हर्ष या अकबर के ज़माने में न सिर्फ़ इस मुल्क के अन्दर बल्कि इस मुल्क के बाहर भी रोशन था।

मार्च १९३९]

हमारे ईसाई भाई

युक्त-प्रान्त में अल्पता की समस्या का एक पहलू हमारे ईसाई भाइयों का सवाल है। सन् १६३१ में इस सूबे की कुल आबादी ४ करोड़ ८४ लाख थी। इनमें—

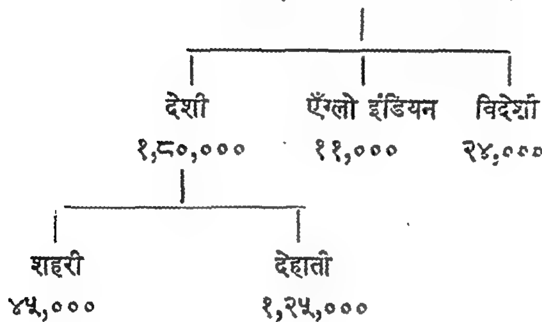
१	मुसलमान	...	...	७२ लाख
२	ईसाई	...	...	२ लाख ५ हज़ार*
३	सिक्ख	...	...	४७ ,,*
४	पारसी	...	...	१ ,,

ऐसी दशा में युक्त-प्रान्त के लिए अल्पता के सवाल का संबंध केवल मुसलमान और ईसाइयों ही से है। जहाँ तक ईसाइयों का सम्बन्ध है वहाँ तक भाषा और लिपि का कोई प्रश्न नहीं उठता। इनके विषय में जिन बातों पर विचार करना है, उनका सम्बन्ध या तो नौकरियों से है या स्थानिक संस्थाओं में प्रतिनिधित्व से। धार्मिक स्वतन्त्रता और नागरिक हक़ों के संरक्षणों का सवाल भी हमारे ईसाई भाई उठाते हैं। अतएव ईसाइयों की समस्या के तीन रूप हैं। सरकारी नौकरियों में इनको कितना हिस्सा दिया जाय? म्युनिसिपल-बोर्ड, डिस्ट्रिक्ट-बोर्ड या गाँव-पंचायतों में इन्हें अलग से प्रतिनिधित्व दिया जाय या न दिया जाय, और यदि दिया जाय तो कितना? इन्हीं तीन प्रश्नों पर हमें इस लेख में विचार करना है।

ईसाइयों की समस्या की तह में केवल धार्मिक भेद ही नहीं है। इसमें धार्मिक अन्तर के साथ जातिगत भेद भी मिला है, क्योंकि हमारे ईसाई तीन भिन्न जातियों के हैं। इस सूबे में सब मिलाकर २ लाख ५ हज़ार ईसाई हैं, जिनमें से १ लाख ८० हज़ार देशी या हिंदुस्तानी ईसाई हैं, बाक़ी २५ हज़ार ईसाइयों में २४ हज़ार विदेशी हैं, अर्थात् वे जो हिंदुस्तान के बाहर से आकर यहाँ बस गये हैं और उनके बाल-बच्चे। शेष ११ हज़ार एँग्लो इंडियन हैं जो, जैसा नाम ही से प्रकट है, अर्ध भारतीय और अर्ध अभारतीय हैं। इन तीनों ही

*सन् १६४१ की मनुष्य-गणना के अनुसार ईसाइयों की संख्या लगभग २॥ लाख से घटकर अनुमानतः १॥ लाख रह गई; पर सिक्खों की संख्या ४७ हज़ार से बढ़कर ढाई लाख हो गई।

जातियों* के ईसाइयों के हित अलग-अलग हैं और तीनों ही की अवस्थाओं के रूप भी जुदा-जुदा हैं। इन रूपों पर विचार करने से पहले आइए उनके बहिरङ्ग वितरण का चित्र स्पष्ट रूप से अपने मानसिक पटल पर अंकित कर लें।



जाति	पुरुष		स्त्री
१ विदेशी ईसाई ...	१७,५५८	...	५,९४२
२ एँग्लो इंडियन ...	५,८६८	...	५,४०४
३ देशी ईसाई ...	८९,७०६	...	८३,३७१

विदेशी ईसाइयों में जहाँ तीन मर्द हैं वहाँ एक औरत। इसका कारण यह है कि बहुत से विदेशी ईसाई फ़ौज में नौकर हैं। तमाम सूबे के स्त्री-पुरुष-संबंधी अनुपात की दृष्टि से एँग्लो इंडियनों और देशी ईसाइयों के मर्द औरतों की संख्याओं में कोई विशेष अन्तर नहीं है। युक्तप्रान्त में सन् ३१ की मर्दुमशुमारी की रिपोर्ट के अनुसार प्रत्येक सौ मर्दों के अनुपात में ९० औरतें थीं। इस दृष्टि से एँग्लो इंडियनों और ईसाइयों में स्त्रियों की संख्या बहुत काफ़ी है।

देशी ईसाइयों का विभाजन

देशी ईसाइयों की आबादी १८८१ में ४८ हज़ार थी, जो ५० साल में बढ़कर १९३१ में २ लाख ५ हज़ार हो गई। पिछली ६ मर्दुमशुमारियों में इनकी संख्या निम्नांकित है—

पूर्णांकों में

१८८१ में	...	...	४८ हज़ार
१८९१ में	...	...	५८ ,,
१९०१ में	...	...	१ लाख २ ,,
१९११ में	...	...	१ लाख ७८ ,,
१९२१ में	...	...	२ लाख १ ,,
१९३१ में	...	...	२ लाख ५ ,,

ऊपर के आँकड़ों को देखने से दो बातें स्पष्ट होती हैं। एक तो यह कि १८८१ से लेकर १९०१ तक अर्थात् २० साल की इस अवधि में ईसाइयों की संख्या दूनी हो गई, अथवा ५८ हज़ार से बढ़कर १ लाख २ हज़ार को पहुँच गई। और १९०१ और १९३१ के बीच में भी इनकी संख्या में वृद्धि उतनी ही हुई जितनी १८८१ और १९०१ में हुई थी। १८९१ और

१६११ के बीच में विशेष वृद्धि हुई, अर्थात् १८६१ के ५८ हज़ार ईसाई १६११ में १ लाख ७८ हज़ार हो गये, यानी इस २० वर्ष की अवधि में ईसाइयों की संख्या २०८ प्रतिशत के हिसाब से बढ़ी, लेकिन १६११ और १६३१ के बीच में प्रतिशत वृद्धि की गति २०८ से घटकर केवल १५ रह गई। इन आँकड़ों के अर्थ को स्पष्ट करने के लिए हम पाठकों का ध्यान इस बात की ओर दिलाना चाहते हैं कि जहाँ १८६१ से १६११ में ईसाइयों की संख्या में १ लाख २० हज़ार की वृद्धि हुई वहाँ १६११-१६३१ में केवल २७ हज़ार की बढ़ती हुई। इन २० साल में वृद्धि की गति उन २० साल की तुलना में कुछ कम एक-चौथाई रह गई। इस घटती का क्या कारण है? बढ़ती या तो धर्म-परिवर्त्तन या नैसर्गिक वृद्धि से होती है। नैसर्गिक वृद्धि उसी समय सम्भव है जब किसी जाति-विशिष्ट या सम्प्रदाय-विशेष में मरनेवालों की संख्या पैदा होने-वालों की संख्या के मुक़ाबिले में कम हो। लेकिन सूबे के अन्य सम्प्रदायों की तुलना में ईसाइयों में न तो अधिक बच्चे ही पैदा हुए और लोग भी कम मरे। अतएव वृद्धि तभी अधिक होगी जब दूसरे सम्प्रदायों के लोग ईसाई होते जायँ। ऐसा होना भी अब कम हो चला है। घटती का मुख्य कारण सन् १६३१ की मर्दुमशुमारी के कमिश्नर की सम्मति में हिन्दुओं का शुद्धि-आन्दोलन था। उदाहरण के लिए, मेरठ ज़िले को ले लीजिए। वहाँ के ईसाई सन् १६२१ में २७ हज़ार से घटकर १६३१ में लगभग १४ हज़ार रह गये, क्योंकि जिन चमारों और भंगियों ने अपने को १६२१ में ईसाइयों में गिनवाया था, उनमें से बहुतों ने सन् १६३१ में अपने को आर्यसमाजी लिखवाया। एटा ज़िले में इसी कारण से सन् १६२१ की तुलना में सन् १६३१ में ईसाइयों की संख्या में लगभग ३ हज़ार की कमी हो गई। इसी तरह से पीलीभीत में भी घटती हुई। सन् ४१ की मर्दुमशुमारी के समय इस सूबे के ईसाइयों की क्या स्थिति होगी, इसके विषय में अभी कुछ कहना असम्भव है।

इस सूबे के ईसाइयों की तीन भिन्न जातियाँ हैं—(१) योरोपियन, (२) एँग्लो इंडियन और (३) देशी ईसाई। सन् ३१ में इस सूबे में २४ हज़ार योरोपियन ईसाई थे, ११ हज़ार एँग्लो इंडियन और १ लाख ७० हज़ार देशी ईसाई। विदेशी ईसाइयों की संख्या १६११ में ३४,००० से घटकर १६३१

में २४,००० रह गई। इनमें से अधिकांश शहरों में रहते हैं। सूबे के २२ प्रमुख नगरों में योरोपियनों की आबादी १८ हज़ार और ऍंग्लो इंडियनों की आबादी लगभग ८ हज़ार सन् ३१ में थी।

आइए, अब सूबे में देशी ईसाइयों के वितरण पर एक नज़र डालें। जैसे ऊपर कहा जा चुका है, इस सूबे में १ लाख ७० हज़ार देशी ईसाई हैं। इनमें से ४५ हज़ार शहर और क़स्बों में आबाद हैं; और १ लाख २५ हज़ार देहातों में आबाद हैं। आगे की तालिका से ईसाइयों का ज़िलेवार वितरण पाठकों को मालूम होगा—

शहरों और क़स्बों में रहनेवाले ईसाइयों की संख्या पूर्णाङ्कों में

ज़िले का नाम	देशी ईसाई	विदेशी और ऍंग्लो इंडियन ईसाई	जोड़
१ मुरादाबाद	४,७००	५००	५,२००
२ लखनऊ	३,७००	५,९००	९,६००
३ मेरठ	३,६००	३,३००	६,९००
४ अलीगढ़	२,९००	१००	३,०००
५ इलाहाबाद	२,५००	४,०००	६,५००
६ कानपुर	२,४००	२,६००	५,०००
७ बरेली	२,४००	१,५००	३,९००
८ आगरा	२,२००	३,९००	५,४००
९ बुलन्दशहर	१,९००	४०	१,९४०
१० बदायूँ	१,९००	२६	१,९२६
११ देहरादून	१,६००	२,५००	४,१००
१२ झाँसी	१,६००	२,७००	४,३००
१३ सहारनपुर	१,५००	८००	२,३००
१४ एटा	१,५००	२६०	१,७६०
१५ मुज़फ़्फ़रनगर	१,५००	१२०	१,६२०
१६ मथुरा	१,३००	६००	१,९००
१७ बिजनौर	१,३००	३१	१,३३१
१८ पीलीभीत	१,०००	११	१,०११
१९ फर्रुख़ाबाद	१,०००	१७७	१,१७७

देहातों में रहनेवाले ईसाई प्रायः सभी देशी हैं। केवल ८ ज़िले ऐसे हैं जिनकी देहातों में रहनेवाले देशी ईसाइयों की संख्या ५,००० से अधिक है।

नं०	नाम ज़िला		देहातों में रहनेवाले (पूर्णांकों में)
१	मुरादाबाद	में	१८,०००
२	अलीगढ़	,,	१५,०००
३	बदायूँ	,,	१४,०००
४	बुलन्दशहर	,,	१२,०००
५	मेरठ	,,	१०,०००
६	बरेली	,,	१०,०००
७	मुज़फ़्फ़रनगर	,,	६,०००
८	एटा	,,	८,०००

४ ज़िलों में ऐसे ईसाइयों की संख्या ३ और ४ हज़ार के बीच में है—

१ मथुरा
२ मैनपुरी
३ फ़र्रुख़ाबाद
४ आगरा

निम्नलिखित ६ ज़िलों में देहाती ईसाइयों की संख्या १,००० से अधिक है :—

१ अल्मोड़ा	२ बनारस
३ गोरखपुर	४ बलिया
५ बिजनौर	६ सहारनपुर

सूबे के शेष ३० ज़िलों के देहातों में इनकी संख्या प्रतिज़िला १,००० से नीचे है।

ऊपर की तालिकाओं का विशेष महत्त्व है। विशेष महत्त्व कई दृष्टियों से है। ग्राम-पंचायतों, ज़िला-बोर्डों और म्युनिसिपल-बोर्डों में ईसाइयों का और विशेषकर देशी ईसाइयों का किस अनुपात से प्रतिनिधित्व हो? क्या ग्राम-पंचायतों में इनको प्रतिनिधित्व दिया जाय? और यदि दिया जाय तो इनका चुनाव पृथक्

हो या संयुक्त ? यदि संयुक्त हो तो इनके प्रतिनिधियों की संख्या क़ानूनन सुरक्षित कर दी जाय ? एँग्लो इंडियनों और योरोपियनों को पृथक् प्रतिनिधित्व दिया जाय या नहीं ? ये सब प्रश्न महत्त्व के हैं। इन पर विचार करने के लिए ऊपर के आँकड़ों से पाठकों को बड़ी सहायता मिलेगी। उदाहरण के लिए, ग्राम-पंचायतों को ले लीजिए। सूबे में १ लाख ६ हज़ार गाँव शहर या क़स्बे हैं, जिनमें से सारे युक्त-प्रान्त में ४५० नगर और क़स्बे माने जाते हैं। इस हिसाब से देशी रियासतों को छोड़कर युक्तप्रान्त में लगभग १ लाख ५ हज़ार गाँव होंगे और इन देहाती रक़बों में बसनेवाले देशी ईसाइयों की संख्या १,२५,००० है जिनमें से बालिग़ों की संख्या लगभग ६० हज़ार होगी, अर्थात् प्रत्येक गाँव पीछे १ से कम और आधे से कुछ अधिक देशी ईसाई बैठा। इस एक से कम ईसाई के विशेषाधिकार के संरक्षण के लिए ग्राम-पंचायतों में विशेष प्रतिनिधित्व देना चाहिए या नहीं ?

इस सूबे में केवल १६ शहर ऐसे हैं, जिनमें देशी ईसाइयों की आबादी १,००० से अधिक है। इन शहरों के नाम और इनके देशी ईसाई निवासियों की संख्या पाठकों को मिल जायगी। सबसे अधिक संख्या मुरादाबाद शहर में है, जहाँ ४,७०० देशी ईसाई रहते हैं। मथुरा और बिजनौर में सबसे कम ईसाई हैं, अर्थात् प्रत्येक में लगभग १,३०० हैं। ऊपर पाठकों को उन ज़िलों के नाम मिलेंगे जिनमें १,००० से अधिक देशी ईसाई रहते हैं। यहाँ पर इतना कह देना सिर्फ़ काफ़ी होगा कि सिर्फ़ ८ ज़िलों के देहातों में ८,००० से लेकर १८,००० तक की संख्या में देशी ईसाई मिलेंगे। चार ज़िलों में देशी ईसाइयों की संख्या ३ हज़ार से ४ हज़ार प्रतिज़िले के बीच में है। ३,००० से कम किन्तु १,००० के ऊपर देशी ईसाइयों की आबादी जिन ज़िलों में है उनकी तायदाद सिर्फ़ ६ है। सूबे में सिर्फ़ १८ ज़िले ऐसे हैं जिनके देहातों में १,००० के अधिक देशी ईसाई आपको मिलेंगे और महज़ ८ ज़िलों में इनकी आबादी ५,००० के ऊपर है।

शिक्षा

इस सूबे में पढ़े-लिखों की संख्या बहुत थोड़ी है। सब मज़हबों को यदि हम लें तो सन् ३१ में ५ वर्ष और ५ वर्ष से अधिक आयुवाले प्रत्येक हज़ार व्यक्तियों में केवल ५५ साक्षर थे, जिनमें से ऐसे पुरुषों में ६४ और ऐसी स्त्रियों

में ११ प्रतिहज़ार पढ़-लिख सकती थीं। सब जातियों के ईसाइयों में साक्षरता सूबे के अनुपात से पँचगुनी अधिक थी। सन् ३१ में ५ वर्ष या उससे अधिक उम्रवाले साक्षर ईसाई २८९ प्रतिहज़ार, ३२७ प्रतिहज़ार मर्द और २४१ प्रति-हज़ार औरतें थीं। स्त्रियों की साक्षरता विशेष रूप से चित्ताकर्षक है। सूबे में जहाँ हज़ार में सिर्फ़ ११ स्त्रियाँ साक्षर थीं, वहाँ ईसाइयों में साक्षर स्त्रियों की संख्या प्रतिहज़ार २४१ थी, यानी सूबे के औसत से २१ गुना अधिक साक्षरता ईसाई स्त्रियों में विद्यमान थी। देशी और विदेशी ईसाइयों में सूबे के औसत की तुलना में कितनी अधिक साक्षरता फैली हुई है, इसका पता नीचे की तालिका से हमें लगता है :—

१९३१ में

		व्यक्तियों में	मर्दों में	स्त्रियों में
१	सूबे की सब जातियों और सम्प्रदायों का औसत	४७	९१	९
२	देशी ईसाई	१५२	१५६	१४८
३	अन्य ईसाई	७०१	७५६	५८७
४	सब ईसाई	२४५	२८२	२०२

यदि हम १९३१ की आबादी में सिर्फ़ इन्हीं व्यक्तियों को लें जिनकी उस समय उम्र १५ से २० वर्ष तक थी, तो विभिन्न सम्प्रदायों के प्रत्येक हज़ार में साक्षरों की संख्या निम्नलिखित प्रकार थी—

सब उम्रों के प्रत्येक हज़ार में साक्षरों की संख्या

		व्यक्ति	मर्द	औरत
१	सूबे का औसत	७२	१२०	१८
२	हिंदू 'सनातनी'	६७	११४	१३
३	मुसलमान	७७	१२४	२६
४	सिक्ख	१५४	२२२	४९
५	देशी ईसाई	२३७	२४४	२२९
६	अन्य ईसाई	७७६	८१५	६२७

पृष्ठ ७३ के आँकड़ों को ज़रा ध्यान से देखिए। हिंदुओं और मुसलमानों के मुक़ाबिले में देशी ईसाई तिगुनी से अधिक संख्या में साक्षर हैं। कम से कम तालीम की दृष्टि से देशी ईसाइयों को पिछड़ा या दलित कोई भी न कहेगा। जिस सम्प्रदाय के लोग शिक्षा में इतनी अधिक उन्नति कर चुके हों वे यदि चाहें तो सूबे के सार्वजनिक और साम्पत्तिक जीवन में आसानी से नेतृत्व को अपने हाथ में ले सकते हैं। क्यों उन्होंने ऐसा नहीं किया, इसके ऐतिहासिक कारण हैं। उनकी विवेचना हम आगे चलकर करेंगे। यहाँ पर तो इस सम्भव के असम्भव हो जाने के रहस्य की ओर हम संकेत कर देना चाहते हैं।

अप्रैल १९३९]

सूबे के मुसलमान

युक्त-प्रान्त में यद्यपि मुसलमानों की संख्या १०० में कुछ कम १५ है, परन्तु कई ऐतिहासिक कारणों से उनको इस सूबे और देश में विशेष महत्त्व प्राप्त है। हमारे राजनीतिक और सामाजिक संवर्धन की दृष्टि से भी इस १५ फ़ी सदी को भुला देना अनुचित होगा। इसीलिए, आइए, हम अपने सूबे के मुसलमानों के वितरण पर विचार और उस वितरण के सामाजिक परिणामों और प्रवृत्तियों को समझने की कोशिश करें। सूबे के मुसलमान सूबे के हिन्दुओं से, मज़हब को छोड़कर, और किसी बात में भिन्न नहीं हैं। हम सब जो इस सूबे में बसते हैं इसी की ख़ाक से बने हैं। सूबे में वैसे ही, जैसे देश में, एक ही क़ौम के लोग हमें आपको मिलेंगे। न यहाँ पर कोई हिन्दू क़ौम है, न कोई मुसलमान क़ौम और न ईसाई क़ौम। अँगरेज़ और ऐँग्लो-इण्डियनों को छोड़कर बाक़ी सब सम्प्रदाय के लोग एक ही जाति के हैं। उनके हाड़-मांस में कोई भेद नहीं। जो लोग कहते हैं कि मुसलमान अपने "देश" से आकर इस मुल्क में बस गये हैं, वे एक भारी भ्रम के शिकार हैं। बाहर से कुछ मुसलमान ज़रूर इस देश में आये, लेकिन वे यहाँ पर उसी तरह से खप गये, जैसे मुट्ठी भर नमक गंगाजल में खप जाता है। उसका कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं रह जाता और न उसके कारण गंगाजल ही में कोई ख़ास परिवर्त्तन हो जाता है। हिंदुस्तानी ईसाई इसी तरह उन लोगों की औलाद हैं, जो पहले हिंदू थे पर बाद को ईसाई हो गये। मौजूदा मुसलमान भी आदि में हिंदू ही थे। आज भी प्रायः हिंदू मुसलमान या ईसाई धर्म ग्रहण करते हैं। लेकिन महज़ मज़हब के बदलने के कारण उनकी क़ौमियत (जातीयता) में किसी प्रकार का अन्तर नहीं हो जाता। जापान, जर्मनी या इँगलैंड में भी, जैसे हिन्दुस्तान में लोग अकसर एक धर्म को छोड़कर दूसरे मज़हब को अपना लेते हैं; लेकिन धर्म के बदल जाने पर भी जापानी जापानी ही, जर्मन जर्मन और अँगरेज़ अँगरेज़ ही बना रहेगा। इसी तरह, सिर्फ़ धर्म के बदल जाने के कारण, किसी देश के रहनेवालों की क़ौमियत में कभी कोई

अन्तर नहीं हो जाता। जिन लोगों ने क़ौमियत की भौतिक विलक्षणता पर ध्यान दिया है उनका यह कहना है कि युक्त-प्रान्त की भिन्न जातियों का सम्मिश्रण इतनी अधिक मात्रा में सदियों पहले हो चुका है कि युक्त-प्रान्त के सब निवासी एक ही जाति के कहे जा सकते हैं। भारत पर परदेशियों के कई हमले पुराने ज़माने में हुए हैं, यह ठीक है; और यह भी ठीक है कि आक्रमणकारी सेनाओं में बहुत काफ़ी संख्या में परदेशी मौजूद थे, लेकिन ऐसे जो परदेशी हिंदुस्तान के बाहर से सूबे या देश में आये, वे यहाँ की जनता में घुल-मिल गये। उनका कोई स्वतन्त्र चिह्न बाक़ी न रहा। जिस तरह से हमारे भाई, मिस्टर विलियम या मिस्टर डैविट, ईसाई होते हुए भी हिंदुस्तानी हैं, उसी तरह मौलाना क़ादरी या मिस्टर अन्सारी भी हिंदुस्तानी हैं; उसी अंश में वे लोग हिंदुस्तानी हैं, जिस अंश में पंडित रामलाल या चौधरी बिहारीलाल हिंदुस्तानी हैं। लोगों के मज़हब जुदा-जुदा हो सकते हैं, लेकिन सिर्फ़ मज़हब में भेद होने के कारण लोगों की जातीयता या क़ौमियत में कोई अन्तर नहीं आ जाता।

सूबे के मुसलमानों का जब हम ज़िक्र करते हैं, तो उनका ज़िक्र इस नीयत से नहीं करते हैं कि वे हिंदुस्तानी नहीं हैं या वे किसी दूसरी जाति-विशेष के अंग हैं; किन्तु इसलिए कि हिंदुस्तान के मज़हबी भेद-भाव को राजनीतिक परिस्थितियों ने विशेष महत्त्व दे रक्खा है। सूबे के मुसलमानों को यदि हम अल्पसंख्यक कहते हैं तो हमारी मंशा यह कदापि नहीं होती कि वे हमसे जुदा किसी दूसरी जाति के हैं। उनकी और हमारी जाति एक है। योरप और हिंदुस्तान की 'अल्पता'-सम्बन्धी समस्यायें एकदम भिन्न हैं। योरप में 'अल्पता' का सम्बन्ध है भिन्न जाति के उन अल्पसंख्यकों से, जिन्हें किसी देश के दूसरी क़ौम के बहुसंख्यक के बीच में रहना पड़ता है। उदाहरण के लिए, पोलैंड या चैकोस्लोवाकिया में जर्मन अल्पसंख्यक थे या फ़िलिस्तीन में यहूदी अल्पसंख्यकों की समस्या है। वहाँ 'अल्पता' का आधार जातीय भेद माना जाता है। हिंदुस्तान में 'अल्पता' की समस्या का आधार जातीय विभेद नहीं, किन्तु मज़हब या धर्म में भिन्नता है। इँगलैंड में प्रोटेस्टेंट हैं, क्वेकर हैं, रोमन-कैथलिक हैं। सबके धर्म जुदा-जुदा हैं, लेकिन हैं, सब एक ही जाति के। सब अँगरेज़ हैं। इसी तरह युक्त-प्रान्त में भी ईसाई, मुसलमान और हिंदू-धर्म के

माननेवाले अलग-अलग गिने जाते हैं, किंतु वे सब इसी प्रान्त के निवासी हैं। इनको अलग-अलग क़ौमें कहना ऐसी दशा में झूठ का प्रचार करना है। मुसलमानों की भी कोई अलग क़ौम नहीं हो सकती। यदि धार्मिक विभेद क़ौमी जुदेपन की कसौटी मान ली जाय, तो मुसलमानों में भी जहाँ सुन्नी क़ौम है वहाँ शिया, वहाबी आदि विभिन्न सम्प्रदायों के माननेवाली विभिन्न जातियाँ हैं। शिया और सुन्नियों में मज़हबी अन्तर होते हुए भी दोनों की क़ौम यदि हम एक ही मानते हैं, तो हमें यह मानना पड़ेगा कि हिंदू और मुसलमानों में भी मज़हबी भेद के होते हुए दोनों एक ही जाति के हैं।

मुसलमानों के युक्त-प्रान्त में वितरण की तीन विशेषतायें हैं। पहली यह है कि मुसलमान अधिकतर संख्या में शहरों या क़स्बों में रहते हैं, देहातों में कम। दूसरी विशेषता यह है कि पश्चिम में उनकी संख्या अधिक है पूर्व में कम। तीसरी विशेषता यह है कि उप-हिमालय पश्चिमी गंगा के मैदान के पश्चिमी खंडों में मुसलमानों की जितनी घनी आबादी है, उतनी घनी आबादी सूबे के अन्य पूर्वी खंडों में आपको नहीं मिलेगी।

आप नगर और क़स्बों को ले लीजिए। इन सबकी कुल आबादी ५४ लाख है जिनमें से २१ लाख मुसलमान हैं। सूबे के मुसलमानों की कुल आबादी ७२ लाख है, अर्थात् सूबे के कुल ७२ लाख मुसलमानों को यदि हम लें तो उनमें से २१ लाख शहराती और ५१ लाख देहाती मुसलमान १९३१ में थे। नगर और क़स्बों की आबादी को ही यदि हम सिर्फ़ लें तो प्रत्येक १०० की आबादी में ३९ मुसलमान थे। देहात की कुल आबादी चार करोड़ तीस लाख है जिनमें से ५१ लाख मुसलमान हैं अर्थात् १०० में ११ मुसलमान। सूबे में जितने हिंदू हैं उनमें से ३२ लाख हिंदू अर्थात् आठ सैकड़ा तो शहर और क़स्बों में रहते हैं और ३ करोड़ ७२ लाख यानी ९२ प्रतिशत हिंदू देहात के रहनेवाले हैं। लेकिन सूबे के प्रत्येक २४ मुसलमानों में से ७ मुसलमान शहर और क़स्बों में और १७ मुसलमान देहात में बसते हैं। ऊपर जो आँकड़े दिये गये हैं उन्हें कोष्ठक के रूप में हम पाठकों की सुविधा के लिए पृष्ठ ७८ में दे रहे हैं :—

युक्त-प्रान्त के क़स्बों और देहातों में

	नागरिक	देहाती
कुल आबादी	५४,००,०००	४,३०,००,०००
कुल हिंदू	३२,००,००० या ६० प्र० श०	३,७८,००,००० या ८८ प्र० श०
कुल मुसलमान	२६,००,००० या ३६ प्र० श०	५१,००,०००, या ११ प्र० श०

जिस तरह से युक्त-प्रान्त के क़स्बों और शहरों में मुसलमानों की अधिक आबादी हमको मिलती है उसी तरह बङ्गाल के क़स्बों और शहरों में हिन्दुओं की अधिकतर आबादी आपको मिलेगी। इसका कारण प्रत्यक्ष है। अल्पसंख्यक समुदाय के लोग उन्हीं स्थानों में रहना पसन्द करते हैं जहाँ उन्हें आत्म-रक्षा की अधिक सुविधा मिल सकती है। आत्मसमर्पण की दृष्टि से युक्त-प्रान्त में मुसलमानों और बंगाल में हिन्दुओं को देहात की तुलना में शहर और क़स्बों में आसानी से संरक्षण की अधिक सुविधायें प्राप्त हैं। इसका एक ऐतिहासिक कारण भी है। जहाँ तक हमारे सूबे का सम्बन्ध है वहाँ मुसलमानी शासन होने के कारण शहर और क़स्बों में मुसलमानों का अधिक संख्या में होना स्वाभाविक था। बहुत-से क़स्बों और नगरों की बुनियाद ही मुसलमानी अमलदारी के कारण से पड़ी थी। ऐसी दशा में कोई अचरज की बात नहीं यदि हमारे सूबे में ७२ लाख मुसलमानों में से २१ लाख मुसलमान आज दिन हमें क़स्बों और शहरों में मिलते हैं। इसका एक और भी परिणाम है। औसत हिंदू के मुक़ाबले में औसत मुसलमान की आमदनी अधिक है। शहर के रहनेवालों की रहन-सहन देहातियों की रहन-सहन से कुछ अधिक ऊँची अवश्य होती है। देहातियों की इतनी आमदनी भी नहीं होती जितनी शहर या क़स्बों के रहनेवालों की होती है। देहातों में भी हिंदू किसान और मुस्लिम कारीगर हैं। कारीगर किसान से अधिक कमाता है। दोनों की माली हालतों में अन्तर होने के कारण यह स्वाभाविक है कि एक अधिक बलशाली और दूसरा तुलना में कमज़ोर हो। यही कारण है कि हमारे सूबे में जब किसी महामारी का प्रकोप हुआ, अकाल पड़ा या अतिवृष्टि हुई तो मुसलमानों की तुलना में अधिक हिंदू मरते हैं। १८८१ से १९३१ तक की मर्दुमशुमारियों की

रिपोर्टों को आप देख जाइए, आप भी उन्हीं परिणामों पर पहुँचेंगे जिनका मैंने उल्लेख किया है। यह किंवदन्ती चली आती है कि हिंदुओं के मुक़ाबिले में मुस्लिमों की माली हालत ख़राब है। मुस्लिम वक्ता और लेखक भी हिंदुओं को ख़ुशहाल और अपने को मुफ़लिस कहा करते हैं। लेकिन वास्तव में बात ऐसी नहीं है।

सूबे में ८५ म्युनिसिपैल्टियाँ हैं, इनमें से बीस ऐसी म्युनिसिपैल्टियाँ हैं जिनमें मुसलमानों की आबादी हिंदुओं की आबादी से अधिक है। नीचे की तालिका से पाठकों को उन बीस म्युनिसिपैल्टियों के नाम मालूम हो जायँगे और उन्हें इसका भी पता लग जायगा कि किस म्युनिसिपैल्टी की कुल आबादी में प्रतिशत मुसलमानों की कितनी संख्या है :—

नाम म्युनिसिपैल्टियाँ			आबादी के प्रतिशत मुसलमानों की संख्या
नगिम	...	...	७९·८
अमरोहा	...	...	७३·८
चन्दपुर	...	...	७०·३
सम्भल	...	...	६९·५
देवबांध	...	...	६३·२
ख़ैराबाद	...	...	६०·८
टाडा	...	...	५९·२
सहारनपुर	...	...	५४·६
बदायूँ	...	...	५८·२
मुरादाबाद	...	...	५७·६
नजीबाबाद	...	...	५६·४
बिजनौर	...	...	५५·९
संडिला	...	...	५५·४
सिकन्दराराय	...	...	५४·९
शाहजहाँपुर	...	...	५४·६
बहराइच	...	...	४५·१

नाम म्युनिसिपैल्टियाँ	आबादी के प्रतिशत	मुसलमानों की संख्या
कैरानी	... ...	५३ ६
तिलहार	... ...	५३·२

नीचे की ३० म्युनिसिपैल्टियों में मुसलमानों की संख्या १०० पीछे ५० से कम लेकिन ३३ से अधिक है :—

मेरठ	... ...	४६·१
फतेहपुर	... ...	४४·०
शाहाबाद	... ...	४८·१
धामपुर	... ...	४८·०
नवाबगंज (बाराबंकी)	... ...	४६·६
पीलीभीत	... ...	४६·२
खुर्जा	... ...	४५·६
रायबरेली	... ...	४३·८
अटरौली	... ...	४३·५
बुलन्दशहर	... ...	४३·३
कोल (अलीगढ़)	... ...	४२·८
क़न्नौज	... ...	४२·७
बलरामपुर	... ...	४२·६
जैलसार	... ...	४२·
कादीपुर	... ...	४१·१
हापुर	... ...	४१·
गोंडा	... ...	४१·
सिकन्दराबाद	... ...	४० ६
लखनऊ	... ...	४०·५
फ़िरोज़ाबाद	... ...	४०·३
जौनपुर	... ...	३६·७
मुज़फ़्फ़रनगर	... ...	३७ २

नाम म्युनिसिपैल्टियाँ	आबादी के प्रतिशत मुसलमानों की संख्या		
सीतापुर	...	...	३६·६
उन्नाव	...	...	३०·४
गोरखपुर	...	...	३६·३
रुड़की	...	...	३६·३
बिलासपुर	...	...	३५·८
आगरा	...	...	३५·१
कासगांगी	...	...	३४·७
बेला (प्रतापगढ़)	...	...	३४·२

८५ म्युनिसिपैल्टियों में से २० म्युनिसिपैल्टियाँ ऐसी हैं जिनमें मुसलमानों की जन-संख्या हिंदुओं की जन-संख्या से अधिक है और ३० में वे एक तिहाई से कुछ अधिक और आधे से कुछ कम हैं। कुल ३५ म्युनिसिपैल्टियाँ ऐसी बचती हैं जिनमें मुसलमानों की आबादी कुल आबादी की एक तिहाई से कम है। इन म्युनिसिपैल्टियों को छोड़कर, सूबे के दूसरे क़स्बों की संख्या ३५६ है। इनमें भी पश्चिमी हिस्से में बहुत-से ऐसे क़स्बे आपको मिलेंगे, जिनमें मुसलमानों की अधिक आबादी है। जिन क़स्बों में हिन्दू अधिक हैं, उनमें भी अल्पसंख्यक मुसलमानों की काफ़ी आबादी है। यही कारण है कि शहर और क़स्बों में हिंदू-मुसलमानों के झगड़े प्रायः हुआ करते हैं। होली, ताजिया, आरती और बाजे को लेकर हर आये दिन दोनों सम्प्रदायों में कशमकश बनी रहती है। झगड़ा होता है, यह दुख की बात है; लेकिन साथ ही हमें यह न भूलना चाहिए कि इन ८५ म्युनिसिपैल्टियों और ३५६ क़स्बों के अलावा, सूबे में एक लाख और पाँच हज़ार गाँव भी हैं। ऐसी दशा में यह स्पष्ट है कि सूबे में जो कुछ दंगा-फ़साद होता है उसकी सीमा बहुत परिमित है। बंगाल के प्रधान मन्त्री, मौलवी फ़ज़लुलहक़ साहब ने दिसम्बर १९३९ को कांग्रेसी सरकार के ज़माने में होनेवाले उन दंगों और फ़सादों की एक फ़िहरिस्त अख़बारों में प्रकाशित की थी, जो इस सूबे में हुए। ऐसे दंगों की कुल संख्या, मिस्टर हक़ के अनुसार, ३२ या ३३ थी। ढाई साल की अवधि में एक लाख और ६ हज़ार गाँवों,

क़स्बों और नगरों में सिर्फ़ ३३ स्थानों में झगड़े हुए। हक़ साहब ने अपनी फ़िहरिस्त में जिन स्थानों के नाम गिनाये हैं, उनमें से कई ऐसे हैं जहाँ कांग्रेसी सरकार के ज़माने में कहीं कोई झगड़ा नहीं हुआ। अगर ऐसे स्थानों को हम निकाल दें, तो कांग्रेसी हुकूमत के ढाई साल की अवधि में कुल २४ या २५ दंगे रह जाते हैं अर्थात् प्रतिवर्ष दंगों का औसत १० बैठता है। एक लाख और छः हज़ार गाँवों, क़स्बों और नगरों में यदि १० स्थानों में साल के ३६५ दिन के अन्दर हिन्दुओं और मुस्लिमों में खटपट हो जाय तो दुख की बात तो अवश्य है, लेकिन कोई अचरज की बात नहीं। १० हज़ार स्थानों में यदि किसी एक स्थान में झगड़ा हुआ तो इसका यह परिणाम नहीं निकाला जा सकता कि सारे सूबे की शान्ति भंग हो गई।

नीचे की तालिका में जो आँकड़े दिये जाते हैं, उनसे आपको पता चलेगा कि १८८१ से लेकर १९३१ तक मुसलमानों की संख्या में क्या वृद्धि हुई :—

सन्	मुसलमानों की संख्या
१८८१	५९,२३,०००
१८९१	६३,४७,०००
१९०१	६७,६१,०००
१९११	६९,०४,७३१
१९२१	६४,८१,०००
१९३१	७१,८२,०००

बाल-विवाह की प्रथा नहीं है, उनमें विधवा-विवाह भी जायज है। हिन्दुओं में भी द्विजातियों को छोड़कर अन्य जातियों में विधवा-विवाह होता है, लेकिन तो भी विधवाओं की संख्या हिन्दुओं में अधिक है। माली हालत की कमी, बाल-विवाह का चलन और विधवा-विवाह का निषेध, इन तीन कारणों से हिन्दुओं की वृद्धि बहुत कुछ मारी जाती है और जब तक हिन्दुओं के सामाजिक संगठन में व्यापक परिवर्त्तन न होगा तब तक उनकी वृद्धि बहुत कुछ क्षीण ही बनी रहेगी। हमें इससे यहाँ पर सरोकार नहीं है कि हिन्दुओं में बाल-विवाह बन्द कर दिया जाय या विधवाओं को पुनर्विवाह का अधिकार मिल जाना चाहिए. यह तो हिन्दू-समाज के नेताओं और हितैषियों के विचार और निर्णय की बात है। लेकिन हिन्दू और मुसलमानों की जन-संख्या में वृद्धिगतियों की तुलना करते समय प्रसंगवश मैंने उन कारणों का उल्लेख कर देना यहाँ पर उचित समझा, जिनकी वजह से हिन्दुओं की वृद्धि मारी जाती है। मुसलमानों की वृद्धि इसलिए अधिक हुई क्योंकि उनमें बच्चे अधिक पैदा होते हैं, उनमें लोग भी कम मरते हैं और वे अधिक दिनों तक जीवित भी रहते हैं। इसके विपरीत हिन्दुओं के बच्चों की पैदाइश कम है, हिन्दू अधिक संख्या में मरते हैं और कम वर्षों तक जीवित रहते हैं। यही कारण है कि पिछले पचास साल तक में मुसलमानों की आबादी में सन्तोषजनक वृद्धि हुई और हिन्दुओं में मुसलमानों को देखते हुए उन्हीं के बराबर वृद्धि न हो पाई। जान-बूझकर मैंने पैदाइश, मृत्यु, विवाह की आयु, जीवन की अवधि आदि से सम्बन्ध रखनेवाले आँकड़ों से लेख के कलेवर को बढ़ाने की ज़रूरत नहीं समझी। जो सज्जन इस बात की व्यापक जानकारी करना चाहते हैं उनके लिए सूबे की पुरानी मर्दुमशुमारियों की रिपोर्टें मौजूद हैं। सधारण पाठकों के लिए तो उतना काफ़ी है जितने का मैंने ऊपर उल्लेख कर दिया है।

युक्त-प्रान्त के प्राकृतिक खण्ड

(अ) हिमालय-पश्चिमी :—(१) नैनीताल (२) अलमोड़ा (३) गढ़वाल (४) देहरादून।

क़स्बों और नगरों में सिर्फ़ ३३ स्थानों में झगड़े हुए। हक़ साहब ने अपनी फ़िहरिस्त में जिन स्थानों के नाम गिनाये हैं, उनमें से कई ऐसे हैं जहाँ कांग्रेसी सरकार के ज़माने में कहीं कोई झगड़ा नहीं हुआ। अगर ऐसे स्थानों को हम निकाल दें, तो कांग्रेसी हुकूमत के ढाई साल की अवधि में कुल २४ या २५ दंगे रह जाते हैं अर्थात् प्रतिवर्ष दंगों का औसत १० बैठता है। एक लाख और छः हज़ार गाँवों, क़स्बों और नगरों में यदि १० स्थानों में साल के ३६५ दिन के अन्दर हिन्दुओं और मुस्लिमों में खटपट हो जाय तो दुख की बात तो अवश्य है, लेकिन कोई अचरज की बात नहीं। १० हज़ार स्थानों में यदि किसी एक स्थान में झगड़ा हुआ तो इसका यह परिणाम नहीं निकाला जा सकता कि सारे सूबे की शान्ति भंग हो गई।

नीचे की तालिका में जो आँकड़े दिये जाते हैं, उनसे आपको पता चलेगा कि १८८१ से लेकर १९३१ तक मुसलमानों की संख्या में क्या वृद्धि हुई :—

सन्	मुसलमानों की संख्या
१८८१	५९,२३,०००
१८९१	६३,४७,०००
१९०१	६७,६१,०००
१९११	६९,०४,७३१
१९२१	६४,८१,०००
१९३१	७१,८२,०००

ऊपर के आँकड़ों को देखने से पता चलता है कि १८८१ से लेकर १९३१ तक की ५० वर्ष की अवधि में, मुसलमानों की आबादी में १२ लाख ६० हज़ार की वृद्धि हुई अर्थात ५० वर्ष में मुसलमानों की संख्या २३ प्रतिशत बढ़ गई जब कि हिन्दुओं में वृद्धि कुल ६·७ प्रतिशत हुई। इस वृद्धि का कारण मत-परिवर्तन नहीं है, इसका तो प्रभाव नगण्य है। वास्तव में कारण सामाजिक और आर्थिक है। हम ऊपर बता चुके हैं कि इस सूबे के औसत मुसलमान औसत हिन्दू के मुक़ाबिले अधिक ख़ुशहाल हैं। मुसलमानों को देखते हुए सूबे के हिन्दुओं को यदि हम मुफ़लिस कहें तो बेजा न होगा। मुसलमानों में

बाल-विवाह की प्रथा नहीं है, उनमें विधवा-विवाह भी जायज है। हिन्दुओं में भी द्विजातियों को छोड़कर अन्य जातियों में विधवा-विवाह होता है, लेकिन तो भी विधवाओं की संख्या हिन्दुओं में अधिक है। माली हालत की कमी, बाल-विवाह का चलन और विधवा-विवाह का निषेध, इन तीन कारणों से हिन्दुओं की वृद्धि बहुत कुछ मारी जाती है और जब तक हिन्दुओं के सामाजिक संगठन में व्यापक परिवर्त्तन न होगा तब तक उनकी वृद्धि बहुत कुछ क्षीण ही बनी रहेगी। हमें इससे यहाँ पर सरोकार नहीं है कि हिन्दुओं में बाल-विवाह बन्द कर दिया जाय या विधवाओं को पुनर्विवाह का अधिकार मिल जाना चाहिए, यह तो हिन्दू-समाज के नेताओं और हितैषियों के विचार और निर्णय की बात है। लेकिन हिन्दू और मुसलमानों की जन-संख्या में वृद्धिगतियों की तुलना करते समय प्रसंगवश मैंने उन कारणों का उल्लेख कर देना यहाँ पर उचित समझा, जिनकी वजह से हिन्दुओं की वृद्धि मारी जाती है। मुसलमानों की वृद्धि इसलिए अधिक हुई क्योंकि उनमें बच्चे अधिक पैदा होते हैं, उनमें लोग भी कम मरते हैं और वे अधिक दिनों तक जीवित भी रहते हैं। इसके विपरीत हिन्दुओं के बच्चों की पैदाइश कम है, हिन्दू अधिक संख्या में मरते हैं और कम वर्षों तक जीवित रहते हैं। यही कारण है कि पिछले पचास साल तक में मुसलमानों की आबादी में सन्तोषजनक वृद्धि हुई और हिन्दुओं में मुसलमानों को देखते हुए उन्हीं के बराबर वृद्धि न हो पाई। जान-बूझकर मैंने पैदाइश, मृत्यु, विवाह की आयु, जीवन की अवधि आदि से सम्बन्ध रखनेवाले आँकड़ों से लेख के कलेवर को बढ़ाने की ज़रूरत नहीं समझी। जो सज्जन इस बात की व्यापक जानकारी करना चाहते हैं उनके लिए सूबे की पुरानी मर्दुमशुमारियों की रिपोर्टें मौजूद हैं। सधारण पाठकों के लिए तो उतना काफ़ी है जितने का मैंने ऊपर उल्लेख कर दिया है।

युक्त-प्रान्त के प्राकृतिक खण्ड

(अ) हिमालय-पश्चिमी :—(१) नैनीताल (२) अलमोड़ा (३) गढ़वाल (४) देहरादून।

(आ) उप-हिमालय-पश्चिमी :— (१) सहारनपुर (२) बिजनौर (३) पीलीभीत (४) बरेली (५) खीरी।

(इ) उपहिमालय पूर्वी :—(१) गोंडा (२) बहराइच (३) बस्ती (४) गोरखपुर।

(ई) सतपुड़ा पूर्वी :—(१) मिर्ज़ापुर।

(उ) मध्य-भारतीय पठार :—(१) झाँसी (२) जालौन (३) बाँदा (४) हमीरपुर।

(ऊ) गंगा का मैदान पश्चिमी :—(१) मुज़फ़्फ़रनगर (२) मेरठ (३) बुलन्दशहर (४) बदायूँ (५) मुरादाबाद (६) शाहजहाँपुर (७) आगरा (८) मथुरा (९) अलीगढ़ (१०) एटा (११) मैनपुरी (१२) इटावा (१३) फ़र्रुख़ाबाद।

(ए) गंगा का मैदान मध्य :—(१) कानपुर (२) फतेहपुर (३) इलाहाबाद (४) लखनऊ (५) उन्नाव (६) रायबरेली (७) सीतापुर (८) हरदोई (९) फ़ैज़ाबाद (१०) सुलतानपुर (११) परताबगढ़ (१२) बाराबंकी।

(ऐ) गंगा का मैदान पूर्वी :—(१) बनारस (२) जौनपुर (३) ग़ाज़ीपुर (४) बलिया (५) आज़मगढ़।

अप्रैल, १९४०]

हमारे सूबे के मुसलमान

पिछले लेख में हमने इस प्रान्त में बसनेवाले मुसलमानों के वितरण का कुछ ज़िक्र किया है; लेकिन इस सम्बन्ध में जितना हमें कहना था उतना सब हम पिछले लेख में नहीं कह पाये थे। उन्हीं छूटी हुई बातों का संक्षेप से वर्णन हम इस लेख में कर देना चाहते हैं।

नीचे हम दो कोष्ठक दे रहे हैं। वे महत्त्व के हैं। उनको पाठक ध्यान से देखने का अनुग्रह करें। कोष्ठकों में प्रान्त के विभिन्न प्राकृतिक खंडों में विभिन्न सम्प्रदाय के विवरण का मानचित्र मिलेगा।

(१) नागरिक वितरण *

	१०० नागरिकों में				
खण्ड का नाम	हिंदू	मुसलमान	आर्य	ईसाई	अन्य
हिमालय पश्चिमी	६८	२५	२	४	१
उप-हिमालय पश्चिमी	४२	५४	२	१	१
गंगा का पश्चिमी मैदान	५६	४०	१	२	१
गंगा का मध्य मैदान	६०	३७	१	२	नगण्य
मध्य-भारत-पठार	७५	२२	१	२	—
पूर्वी सतपुड़ा	७९	१९	१	१	—
उप-हिमालय पूर्वी	६६	३३	१	—	—
गंगा का पूर्वी मैदान	६७	३१	१	१	—

(२) देहाती वितरण *

	१०० देहातियों में				
खण्ड का नाम	हिंदू	मुसलमान	आर्य	ईसाई	अन्य
हिमालय पश्चिमी	९४	४	२	—	—
उप-हिमालय-पश्चिमी	७६	२२	१	१	—
गंगा का पश्चिमी मैदान	८४	१३	२	१	—
गंगा का मध्य मैदान	९०	१०	—	—	—
मध्य-भारत-पठार	९६	४	—	—	—
पूर्वी सतपुड़ा	९६	४	—	—	—
उप-हिमालय पूर्वी	८६	१४	—	—	—
गंगा का पूर्वी मैदान	९२	८	—	—	—

उप-हिमालय पश्चिमी की नागरिक आबादी में ५४ फी सदी मुसलमान और ४४ फी सदी हिन्दू और आर्य हैं। गंगा के मैदान के तीन खंडों में उनकी संख्या क्रमशः ४०, ३७ और ३१ प्रतिशत है। उप-हिमालय पूर्वी में वे ३३ फी सदी हैं। सहारनपुर और मेरठ से लेकर दक्षिण में कानपुर और उत्तर में फैजाबाद तक मुसलमानों की आबादी—क्या देहाती और क्या शहराती—सूबे के पूर्वी खंडों की तुलना में बहुत अधिक है। विशेष रूप से मुसलमानों की घनी आबादी उप-हिमालय पश्चिमी और पूर्वी खंडों में पाई जाती है। इसके बाद गंगा के पश्चिम और मध्य का दर्जा है

ज़्यादा संख्या में आबाद होना स्वाभाविक था। यहीं पर वे मुसलमान भी उन दिनों बस जाया करते थे जिन्हें विजेता मुस्लिम सेनायें विजित स्थानों से क़ैदी बनाकर लातीं और बाद को ग़ुलामों के रूप में अपने यहाँ रख लेती थीं। उन्हीं विजेताओं और विजितों की सन्तानों की औलाद गंगा के पश्चिमी और मध्य मैदानों में सदियों से आबाद चली आई है। लेकिन हिमालय की तराई में मुसलमानों की इतनी घनी आबादी क्यों है? इसका कोई स्पष्ट कारण हमें आज तक नहीं मिला। यह ठीक है कि तराई के मुख्य-मुख्य अड्डे सीमा की रक्षा के लिए मुस्लिम फ़ौजों के पड़ाव थे। इन मुस्लिम सिपाहियों की मौजूदगी से इस्लाम का सुगमता से तराई के इन ज़िलों में प्रचार हो जाना सम्भव था। यह भी हो सकता है कि तराई की हिंदू जनता पिछड़ी हुई थी और इसीलिए इस्लाम को फैलने में वहाँ किसी प्रकार की कठिनाई का सामना न करना पड़ा हो। बात जो कुछ भी रही हो, लेकिन इसमें सन्देह नहीं कि दोनों उप-हिमालय खंडों के ज़िलों में मुसलमानों की आबादी काफ़ी घनी है। देहात में सूबे के मुसलमानों के खंडशः वितरण से भी वही बात प्रकट होती है, जो नागरिक वितरण से स्पष्ट होती है। वह यह है कि जहाँ तक खेती-बारी का सम्बन्ध है, वहाँ तक सूबे की मुसलमान रिआया का उसमें कोई विशेष हाथ नहीं। ज़मीन को कमाने की ज़्यादातर ज़िम्मेदारी हिंदुओं के सिर पर है और उन्हीं के कन्धों पर लदा है बोझ किसानों के हलों का। इसके जवाब में हमें यह न भूलना चाहिए कि देहात के भी कारीगरों में मुसलमानों की अधिक से अधिक संख्या है। उदाहरण के लिए इस सूबे में कपड़े बुननेवालों में लगभग दस लाख मुसलमान हैं। इस दृष्टि से देहात में मुसलमानों की आबादी का विशेष स्थान और महत्त्व है। सम्पत्ति के सृजन में और कच्चे माल को पक्के में बदलने के लिए सूबों के मुसलमानों की आबादी अपनी संख्या के अनुसार कमो-बेश उतनी ही उपयोगी है जितनी हिंदुओं की आबादी। साथ ही हमें यह भी न भूलना चाहिए कि किसानी के साथ, ज़मींदारी के रूप में, मुसलमानों का उतना ही घनिष्ठ सम्बन्ध है जितना हिंदुओं का। सूबे में मुसलमानों की जो आबादी है उसी के बराबर मुसलमान ज़मींदार, मालगुज़ारी अदा करते हैं। यदि सूबे में १०० पीछे १५ मुसलमान हैं तो माल-

गुज़ारी के १००) में से १५ या १६) सरकार को मुसलमान ज़मींदारों से प्राप्त होते हैं। यह भी इस बात की एक और दलील है कि साम्पत्तिक दृष्टि से सूबे के मुसलमान हिंदुओं की तुलना में न तो धनहीन हैं और न बेकार।

× × ×

कहा जाता है कि शिक्षा में मुसलमान हिंदुओं से पिछड़े हैं। यह बात ग़लत है। हिंदुओं में जहाँ हज़ार मर्दों में ७० मर्द पढ़े-लिखे हैं, वहाँ मुसलमानों में ऐसे मर्दों की संख्या ७४ फ़ी हज़ार है। देहातों के मदरसों में हाईस्कूल, कालेजों और विश्व-विद्यालयों में शिक्षा पानेवाले मुसलमानों की संख्या आबादी के हिसाब से काफ़ी अधिक है और यदि उनमें शिक्षा का इससे भी अधिक प्रचार अभी तक नहीं हो सका, तो इसका कारण न तो यह है कि ग़रीब होने के कारण कुछ मुसलमान अपने बच्चों को उतनी आसानी से तालीम नहीं दिला सकते जितनी आसानी से हिन्दू अपने बच्चे को शिक्षा दिला सकता है, और न इसका कारण यही है कि मुसलमानों को तालीम के लिए सरकार की तरफ़ से ख़ास रियायत उन्हें नहीं प्राप्त है। मकतबों और इस्लामिया स्कूलों को सरकारी आज्ञानुसार सूबे के डिस्ट्रिक्ट बोर्डों से हर साल कई लाख रुपया ख़र्च करने को मिलता है। इन संस्थाओं में मुसलमान विद्यार्थियों की पढ़ाई का विशेष रूप से प्रबन्ध है। लेकिन इन तमाम सुविधाओं के होते हुए भी यदि शिक्षा के मामले में मुसलमानों ने आज और अधिक उन्नति नहीं की है, तो इसका कारण कुछ और ही होना चाहिए जिसकी व्याख्या के लिए न तो यह समय और न यह स्थान ही उपयुक्त है। इस सम्बन्ध में हमें जो बात याद रखनी चाहिए

"कुलीन" जातियाँ "नीच" और "रज़ील" कहती हैं। आइए अब इस सूबे के मुसलमानों की मुख्य जातियों के आँकड़े हम पाठकों को भेंट करें :—

आँकड़े हज़ार में

जातियाँ		मर्द		औरत
बढ़ई	...	४८	...	४३
भाँड	...	११	...	११
भिश्ती	...	५०	...	४४
दर्जी	...	८५	...	८०
धोबी	...	५४	...	४९
धुनिया	...	१९३	...	१८६
फ़क़ीर	...	२०३	...	१८४
गद्दी	...	४१	...	३६
गूजर	...	३९	...	३५
हलवाई	...	१९	...	१७
जाट	...	११	...	९
जुलाहा	...	४८३	...	४४७
कुँजड़ा	...	४४	...	३९
लोहार	...	४४	...	३९
मनिहार	...	५४	...	५०
मेव	...	१४	...	९
मुग़ल	...	३१	...	२७
नाई	...	१२२	...	११४
नट	...	११	...	१०
नौ-मुस्लिम	...	४४	...	४२
पठान	...	५५४	...	४९३
क़साई	...	८७	...	७४
राजपूत	...	८९	...	७७

जातियाँ		मर्द		औरत
सैयद	...	१५९	...	१४३
शेख	...	८३३	...	७२३
तगा	...	१५	...	१४
तेली	...	१३१	...	११५
तुर्क	...	२२	...	२०
कुल जोड़		३५०१		३३१३

ऊपर जिन प्रमुख जातियों की नामावली हमने दी है उनमें से जो पाँच जातियाँ अपने को नजीब या कुलीन कहती हैं उनके नाम हैं सैयद, शेख, मुगल, पठान और राजपूत। शेष जातियों को "रज़ील" या "नीच" "कुलीन" जातियाँ कहती हैं। मुसलमानों की कुल आबादी ७२ लाख है, जिनमें ३,७८० मर्द और ३४ लाख औरतें हैं। यद्यपि सूबे के मुसलमानों में प्रत्येक ३८ मर्दों के पीछे ३४ औरतें हैं, लेकिन जिन जातियों की संख्या हमने ऊपर दी है; उनमें ३५ मर्द के पीछे ३३ औरतें थीं। अर्थात् जहाँ सूबे के कुल मुसलमानों में १०० मर्दों के पीछे ८८ स्त्रियाँ हैं वहाँ यदि हम मुसलमानों की केवल उन जातियों को लें जिनका हमने ऊपर नामोल्लेख किया है, तो उनमें सौ मर्द पीछे हमें ९४ स्त्रियाँ मिलेंगी। हिन्दुओं के उच्च जातियों की तुलना में सैयदों में ज़्यादा बच्चे पैदा होते हैं लेकिन पठान और शेख सैयदों से इस मामले में आगे हैं, यद्यपि जुलाहे इस सूबे में सारों ही से आगे बढ़े हैं।

प्रतिहज़ार औरतें विधवा थीं, वहाँ मुसलमानों में उनकी संख्या १२३ थी। पाँच वर्ष तक की अवस्था की बालिकाओं में एक हिन्दू या एक मुस्लिम लड़की प्रति हज़ार विधवा थी। पाँच और दस वर्ष की अवस्था के बीच में हिन्दू विधवाओं की संख्या जहाँ पाँच थी, वहाँ मुसलमानों में तीन। दस और पन्द्रह वर्ष की अवस्था की लड़कियों में उनकी संख्या हिन्दुओं में ६ और मुसलमानों में ६ थी। पन्द्रह और बीस वर्ष की अवस्था की लड़कियों में हिन्दुओं में २६ और मुसलमानों में १७ विधवा थीं। बीस और चालीस की अवस्था के बीच में जहाँ हज़ार पीछे हिन्दुओं में ११८ विधवायें थीं, वहाँ मुसलमानों में उनकी संख्या केवल ८२ थी। चालीस और साठ वर्ष की अवस्था के बीच में ५० हिन्दू-विधवाओं की तुलना में मुसलमानों में ४३ ही विधवाएँ थीं। साठ वर्ष या उससे अधिक की आयु को यदि हम लें तो, हज़ार हिन्दू-स्त्रियों में ८१३ स्त्रियाँ विधवा थीं और हज़ार मुसलमान स्त्रियों में ७६३ विधवाएँ थीं। उप-हिमालय पूर्व में मुस्लिम लड़के और लड़कियों की शादियाँ हिन्दुओं की तुलना में कहीं कम उम्र में होती हैं। मुसलमान जाति में जुलाहों और नौ-मुस्लिम में विधवाओं की संख्या कम और शेख़, पठान, मुग़ल और सैयदों में अधिक है।

× × ×

अब आइए, मुसलमानों की साम्पत्तिक दशा पर एक नज़र डालें। नीचे के कोष्ठक में हम मुसलमानों की पाँच जातियों के प्रतिहज़ार स्त्री-पुरुषों का ब्योरा देते हैं—

प्रतिहज़ार स्त्री-पुरुषों में

जाति	कमानेवालों की संख्या	सहायक आश्रितों की संख्या	निरुद्यमी आश्रितों की संख्या
सैयद	३२६	२१	६५०
पठान	३४१	५५	६०४
शेख़	३४६	३०	६२१
दर्ज़ी	४३३	६५	५०२
जुलाहा	४०७	६१	५३२

ऊपर के आँकड़ों के देखने से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि सैयदों की स्त्री और बच्चे अन्य मुस्लिम जातियों की तुलना में घर की रोटी कमानेवाले पुरुषों का उनके व्यवसाय में कम संख्या में हाथ बटाते हैं। दर्ज़ियों में इनकी संख्या सैयदों की तुलना में तिगुनी है। इसके कई करण हैं। कमानेवालों की सामाजिक मर्यादा का इस मामले में बहुत बड़ा असर पड़ता है। साथ ही किस तरह का काम है इसका भी असर पड़ता है कि कहाँ तक घर के बच्चे या स्त्री उसको करने में सहायक हो सकते हैं। कुल की परम्परा एक तीसरा कारण है। मोटे तौर से यह कहा जा सकता है कि नागरिक व्यवसायों में स्त्री और बच्चे कम और देहाती काम-काज में अधिक हाथ बटा सकते हैं। लेकिन मुसलमानों की बहुत बड़ी तादाद शहरों में रहती है, इसलिए शहरी व्यवसाय में उनकी स्त्रियाँ और बच्चे स्वभावतः कम भाग ले सकते हैं। देहात में रहनेवाले मुसलमान कारीगरों की स्त्रियाँ काफ़ी तादाद में अपने स्वामियों को उनके धन्धों में मदद पहुँचाती हैं।

मई, १९४०]

मुसलमानों की 'दलित' जातियाँ

इस लेख के शीर्षक को देखकर पाठक चौंकेंगे। चौंकने की बात भी है। राह चलते हुए हिन्दुस्तानी को इस बात का ख़्वाब में भी ख़याल नहीं होता कि जैसे हिन्दुओं में वैसे ही मुसलमानों में भी अनेक जातियाँ और सम्प्रदाय हैं। यदि हिन्दुओं में "दलित" जातियाँ हैं, तो मुसलमानों में भी ऐसी बहुत-सी जातियाँ हैं जिन्हें यदि हम "दलित" कहें तो अनुचित न होगा। आज इन्हीं मुसलमान "दलितों" की कहानी इस लेख के द्वारा मैं पाठकों को सुनाना चाहता हूँ ताकि इनके अस्तित्व का उन्हें बोध हो जाय। जिस तरह सरकार और जनता हिन्दू "दलितों" की दशा सुधारने के लिए इधर पिछले कई साल से चिन्तित हो रही है, उसी तरह इन मुस्लिम 'दलितों' की भी दशा सुधारने और उन पर होनेवाले साम्पत्तिक अत्याचार का अन्त करने की ओर लोगों का ध्यान जाना और उन्हें इन दीनों की पुकार सुनने और उनके दुःख-दर्द को दूर करने की तदबीरें ईमानदारी से सोचना चाहिए। इनका भी सुधार मानवता के उद्धार का एक प्रश्न है। इन मुसलमान "दलितों" को राजनीतिक चालबाज़ियों का शिकार बनाना नैतिक दृष्टि से निन्द्य और सार्वजनिक हितों का बाधक होगा। हमारी नीति तो स्पष्ट है। हमारी वही नीति है जिसकी घोषणा ३०, ३२ साल पहले गोपालकृष्ण गोखले ने की थी। उन्होंने कहा था कि यदि हमारे दिलों में स्वतन्त्रता के मन्दिर के निर्माण करने की तमन्ना है, तो हमारा यह पहला कर्त्तव्य है कि जिस भूमि पर हम स्वतंत्रता के मन्दिर को खड़ा करना चाहते हैं, उसे हम पहले समतल कर लें। उनका कहना था कि वह तो अभी ऊबड़-खाबड़ पड़ी है, उसमें कहीं पर टीले हैं, कहीं पर गहरे खड्ड हैं; जगह-जगह पर उसमें कटीली झाड़ियाँ खड़ी हैं। हिन्दू और मुसलमान दलित जातियाँ, गोखले के शब्दों में, स्वतंत्रता के मन्दिर की भूमि में खाइयाँ हैं। उन खड्डों और खाइयों को भरना, उनको समतल बनाना, राष्ट्रीयता का परम पुनीत धर्म है। जितना वह पुनीत है, उतना ही वह आवश्यक भी है। जो नीचे पड़े हैं, उनको उठाये बिना हमारा

काम चल ही नहीं सकता। इसलिए पिछड़ी हुई जातियों को अपनाना, उनके जन्म-सिद्ध अधिकारों को जिन्होंने अपने सामाजिक स्वार्थ में उनसे छीन लिया है उन्हें फिर वापस दिलाना राष्ट्रीयता की बुनियाद डालने के लिए एक महान् तैयारी करना है।

महात्मा गांधी के अथक प्रयत्नों से भारतीयों का और विशेष रूप से हिन्दुओं का ध्यान हिन्दुओं की "दलित" जातियों की ओर काफ़ी खिंच चुका है और उनके सुधार के मसले की अनिवार्यता को अब विरला ही कोई ऐसा सार्वजनिक कार्य-कर्ता मिलेगा, जो स्वीकार न करता हो। लेकिन जैसा हम ऊपर कह चुके हैं, लोगों को इस बात का पता भी नहीं है कि मुसलमानों में भी ऐसी मुसलमान जातियों की संख्या बहुत बड़ी है, जिनकी दशा हिन्दुओं की अछूत जातियों की दशा की तुलना में कुछ ही अच्छी कही जा सकती है। मुस्लिम और हिन्दू "दलितों" की दशा में १६ २० ही का फ़र्क है। यदि हिन्दुओं में आबादी के लिहाज़ से "दलितों" की संख्या २१ सैकड़ा है तो मुसलमानों में "दलितों" की संख्या आबादी के लिहाज़ से ५६ प्रतिशत है। १६०१ की मर्दुम-शुमारी के अनुसार इस सूबे में मुसलमानों की १३३ जातियाँ थीं। १६११ में ६४ की गणना हुई थी। कुछ जातियों के नामों का उल्लेख इस लेख के अन्त में दिये हुए परिशिष्ट (अ) में मिलेगा।

कुछ दिन हुए प्रयाग में "मोमिनों" की एक कान्फ्रेंस हुई थी। उसमें यह बातें कही गई थीं कि हिन्दुस्तान के मुसलमानों में मोमिनों की संख्या ५० सैकड़ा है। उस कान्फ्रेंस में यह भी कहा गया था कि मुस्लिम लीग में मोमिन का कोई विश्वास नहीं है और लीग का यह दावा कि वह हिन्दुस्तान के समस्त मुसलमानों की प्रतिनिधि है, ग़लत है। इन कथनों के अर्थ और महत्त्व को, मुसलमानों को छोड़कर, अख़बारों के दूसरे पढ़नेवाले शायद ही समझे हों। उन्हें यही नहीं मालूम है कि "मोमिन" कौन हैं, और न यह मालूम है कि मुसलमानों में भी "दलित" जातियाँ हैं। और न उन्हें यही मालूम है कि अपने को कुलीन-शरीफ़-कहनेवाले मुसलमान अपने "ज़लील" हम-मज़हबों, सहधर्मियों को अपने से कितना ज़लील और हक़ीर समझते हैं। मैंने उन्नाव में "स्वतंत्रता-दिवस" के दिन (अर्थात्, जनवरी २६, १६३६) बोलते हुए यह कहा था कि

मुसलमानों में "दलितों" की संख्या ५६ प्रतिशत है और मुस्लिम लीग के संचालक वे हैं, जो अपने को नजीब या कुलीन कहते हैं और जो अपने इन अभागे भाइयों को उसी तरह से चूसने में मग्न हैं जिस तरह से उच्च कुलवाले हिन्दू अपनी "दलित" जातियों को अनादि काल से चूसते चले आये हैं। इसलिए मैंने वहाँ पर यह कहा था कि हिन्दू-महासभा और मुस्लिम लीग तो सरमाएदारों की संस्थाएँ हैं, जिनके दिलों में समाज के अपाहिजों के साथ कोई हमदर्दी नहीं है और न जिन्हें अपने पिछड़े हुए भाइयों को आगे बढ़ाने की कोई लगन ही हो सकती है; क्योंकि उनकी दशा सुधारने से उन लोगों के हितों-स्वार्थों को भारी टेस लगेगी और उनकी नेतागिरी का ख़ात्मा हो जायगा।

मेरे भाषण का सार जब अख़बारों में छपा तब मुसलमान अख़बार-नवीसों में कोहराम मच गया और उन्होंने मुझे बहुत कुछ भला-बुरा कहा। उन्होंने मेरे ऊपर यह दोष लगाया कि मैं मुसलमानों में फूट डालना चाहता हूँ ताकि मुसलमानों की एकता नष्ट-भ्रष्ट हो जाय। यह दोष, पाठकों को याद होगा, महात्मा गांधी पर भी हिन्दू-समाज के धर्म-ध्वजियों ने अनेक बार लगाया है। शोषक शोषित का भला कब सहायक हो सकता है? शेर और बकरी में कैसा मेल? भक्षक भक्ष्य के साथ कैसे और कब तक सहानुभूति कर सकता है? भक्ष्य को सबल बनाने की कोशिश जो करेगा, उसी को भक्षक-समुदाय अपना शत्रु समझता है। इसलिए मुझको कुछ अचरज न हुआ जब मुस्लिम अख़बारों ने मेरे ऊपर अपनी कृपा-दृष्टि की और मेरे कथनों पर अपना रोष प्रकट किया।

आइए, इस सूबे की आबादी पर एक नज़र डालें। १९३१ की मर्दुम-शुमारी के अनुसार इस सूबे में ४ करोड़ ९६ लाख पुरुष-स्त्री थे। उनमें वे लोग भी शामिल हैं, जो सूबे की तीन देशी रियासतों में रहते हैं। इन रियासतों के नाम (१) बनारस, (२) रामपुर, (३) टेहरी-गढ़वाल हैं। रियासतों की आबादी घटाने के बाद, सूबे की बाक़ी आबादी ४ करोड़ ८४ लाख रह जाती है। इसमें मुसलमानों की संख्या ७१ लाख ८१ हज़ार है, अर्थात् पूर्ण अङ्कों में ७२ लाख। इस सूबे के मुसलमानों में कम से कम ९४ विभिन्न छोटी-बड़ी जातियाँ

हैं, जिनमें से ५ जातियाँ अपने को कुलीन कहती हैं और बाक़ी छोटी कही जाती हैं। इस लेख के अन्त में हम परिशिष्ट (अ) के रूप में इस सूबे की कुछ मुस्लिम जातियों की नामावली का उल्लेख कर रहे हैं। पहली ५ (?) जातियाँ "ऊँची" या "नजीब" जातियाँ हैं और शेष 'नीच' या "रज़ील" जातियाँ हैं। परिशिष्ट (अ) में प्रत्येक जाति के कितने आदमी सरकारी नौकर हैं उनकी संख्या जाति-विशेष के आगे कोष्ठक में दे दी गई है।

आइए, पहले "नजीब" या "कुलीन" कहलानेवाले मुसलमानों का ज़िक्र कर लें। मुसलमानों में ५ ऐसी जातियाँ हैं जो अपने आपको "नजीब" या "कुलीन" कहती हैं। उनके नाम हैं—(१) सैयद, (२) शेख़, (३) पटान, (४) मुग़ल और (५) राजपूत। सन् १६३१ में इस सूबे में तीन लाख १२ हज़ार सैयद थे, लगभग ६० हज़ार मुग़ल थे, ११ लाख पटान थे, १६ लाख शेख़ और १ लाख ६६ हज़ार राजपूत थे। सब जोड़कर ३२ लाख ३८ हज़ार हुए। इस सूबे में ७२ लाख मुसलमानों में अपने को "नजीब" या "कुलीन" कहनेवाले मुसलमानों की संख्या ३२ लाख है, अर्थात् १०० मुसलमानों में अपने को "कुलीन" कहनेवाले मुसलमान ४४ सैकड़ा हैं। सब आदि ही से सैयद, पटान या शेख़ नहीं हैं। मुसलमानों में एक मसल मशहूर है जो ऊपर के कथन के समर्थन में मर्दुमशुमारी की अनेक रिपोर्टों में आपको मिलेगी। वह मसल यह है:—"पेशहन क़स्साब बूदम, बादज़ां गुश्तम शेख़; ग़ल्ला चुँअरज़ाँ शवद, इम साल सैयद मीशवम"—यानी, पहले साल मैं क़साई था, उसके बाद शेख़ हो गया। इस साल अगर अनाज का भाव गिर गया तो मैं सैयद हो जाऊँगा।

हिन्दू और मुसलमानों में जाति-मर्यादा के बदलने की प्रथा एकसाँ जारी है। कारण भी समान ही हैं। इस तरह से पटानों और मुस्लिम राजपूतों की संख्या में भी उलट-फेर हुआ करता है। हिन्दू "सिंह" मुस्लिम होने पर "ख़ाँ" (ख़ान) में बदल जाता है।

इस स्थान पर मुसलमानों की "नजीब" जातियों की अकमन्यता का एक उदाहरण दे देना अनुचित न होगा। सर सैयद अहमद ख़ाँ के नाम से सूबे के सभी पढ़े-लिखे हिन्दू और मुसलमान परिचित हैं। उन्होंने मुसलमानों में और

मुसलमानों के लिए जो काम किया है, उसका थोड़ा-बहुत बोध हिन्दुस्तान के पढ़े-लिखे लोगों को अवश्य होगा। इन्हीं सैयद अहमद खाँ ने एक बार "नस्ब" (यानी पैदाइश) के एतबार से हिन्दुस्तान के रहनेवाले मुसलमानों का वर्णन किया था। उनका कहना था कि हिन्दुस्तान के मुसलमान हिन्दुस्तान के रहनेवाले नहीं हैं। उनकी यह धारणा थी कि जो मुसलमान इस समय हिन्दुस्तान में हैं, वे वास्तव में उन मुसलमानों की औलाद हैं जो विदेशों से आये थे। उन्हीं के शब्दों में उनकी राय आप अब सुन लीजिए :—

"मुसलमान इस मुल्क के रहनेवाले नहीं हैं। आला (उच्च) या औसत (साधारण) दरजे के लोग अपने मुल्क (?) से यहाँ आकर आबाद हुए। उनकी औलाद ने हिन्दुस्तान की बहुत-सी ज़मीन को आबाद किया और कुछ यहाँ के लोगों को, जो इस मुल्क की अदना क़ौमों में से थे, अपने साथ शामिल कर (मिला) लिया। पस वे निहायत अदने दर्जे (अत्यन्त छोटी श्रेणी) की क़ौमें जो अब तक एतबार इन्सानी (मनुष्यत्व) से भी ख़ारिज हैं और निहायत क़सीर (पतित) हैं, हिन्दुओं की मर्दुमशुमारी में शामिल हैं। मगर इस क़िस्म की कोई क़ौम मुसलमानों की मर्दुमशुमारी में दाख़िल नहीं है।"

ऊपर जो हमने कहा है, उसके समर्थन में मर्दुमशुमारी की एक रिपोर्ट से निम्न-उद्धरण को पढ़िए :—

"The Muhammadans themselves recognise two main social divisions, (i) Ashraf or Sharif and (ii) Ajlaf. The first which means 'noble' or 'person of high extraction' includes all undoubted descendants of foreigners and converts from the higher castes of Hindus. All other Muhammadans, including the functional groups, and all converts of lower rank are collectively known as Ajlaf 'wretches' or 'mean people' or Kamina or Itar, 'base' or 'razil' worthless. This category includes the various classes of converts who are known as Nao

Muslim in Bihar and Nasya in North Bengal, but who, in East Bengal, where their numbers are greatest, have usually succeeded in establishing their claim to be called Sheikh. It also includes various functional groups of which the Ashraf takes no count. To him all alike are Ajlaf. This distinction is primarily one between Muhammadans of foreign birth and those of local origin. The Ashraf consider it degrading to accept menial service or to handle the plough. The traditional occupation of the Saiads is the priesthood, while the Moghals and Pathans correspond to the Kshattriyas of the Hindu regime In some places a third class called Arzal or lowest of all is added. It consists of the very lowest castes with whom no other Muhammadan would associate and who are forbidden to enter the mosque or use the public burial ground. (See *Bengal*, 1901, p. 452)"

मुसलमान लोग ख़ुद भी दो सामाजिक भेद मानते हैं—(१) अशरफ़ या शरीफ़ और (२) अजलाफ़। पहली श्रेणी—जिसके अर्थ हैं 'शरीफ़' या 'ऊँचे ख़ानदान के लोग'—में वे लोग हैं जिनके ख़ानदान सन्दिग्ध नहीं हैं, या जो उच्च जाति के हिन्दुओं में से मुसलमान हुए हैं। शेष सब मुसलमान, सब पेशे-वालों व उन मुसलमानों के जो नीच क़ौम के हिन्दुओं में से आये हैं, अजलाफ़ कहलाते हैं, जिसके मानी हैं—'कमीना या रज़ील'। इस श्रेणी में बिहार के 'नौ मुस्लिम' और उत्तरी बङ्गाल के 'नासिया' लोग भी शामिल हैं, यद्यपि 'नासिया' बहुसंख्यक होने के कारण अपने को 'शेख़' कहलाने में कामयाब हो गये हैं। इनमें बहुत से ऐसे पेशेवर लोग भी शामिल हैं जिनकी अशरफ़ लोग कुछ परवाह नहीं करते। उनकी दृष्टि में सब अजलाफ़ एक से हैं। यह बात विदेश से आये हुए व इस देश में उत्पन्न हुए—दोनों प्रकार के मुसलमानों में

एक-सी पाई जाती है। अशरफ़ लोग छोटी नौकरियों को स्वीकार करने या हल चलाने में अपनी तौहीन समझते हैं। सैयदों का परम्परागत पेशा है पुरोहिती; पठान और मुग़ल हिन्दुओं की क्षत्रिय जाति के समकक्ष हैं। इनके सिवा कहीं-कहीं एक तीसरी श्रेणी 'अर्ज़ल' भी मानी जाती है। इस श्रेणी में बहुत नीची जाति के लोग हैं जिनके साथ दीगर मुसलमान लोग मिलना-जुलना पसन्द नहीं करते; इन लोगों को न मस्जिद में जाने का अधिकार है, न क़ब्रिस्तान का उपयोग करने का।

—(बङ्गाल प्रान्तीय मर्दुमशुमारी की रिपोर्ट,
१६०१, पृष्ठ ४५२)

देखिए, सर सैयद अहमद के दर्प-भरे वर्णन को और यह भी देखिए कि नजीबों को परदेशी कहने का उनको कितना नाज़ है। बाहर की क़ौम अपने मुल्क से हिन्दुस्तान में, उनके अनुसार, पधारी। इस देश को उन्होंने जीता और जीतने के बाद यहीं बस गये। हिन्दुस्तान में जो आज दिन मुसलमान मिलते हैं, वे इन्हीं परदेशी विजेता मुसलमानों की सन्तानें हैं। उनमें हिन्दुओं की "दलित" जातियों के समान कोई जाति नहीं है। सर सैयद अहमद के इस उद्गार के समान साम्प्रदायिक अहंमन्यता का कोई दूसरा उदाहरण मिलना कठिन होगा। इतिहास की दृष्टि से उनका यह कथन जितना असत्य है, उतना ही वह शोक-जनक भी है। क्योंकि उसमें जातीय बड़प्पन और तौहीन की गन्ध बेतरह भरी हुई है। मुसलमानों की छोटी जातियों से सर सैयद अहमद ख़ाँ को इतनी नफ़रत थी, इतना द्वेष था, इतनी भयङ्कर असहिष्णुता थी कि वे उनको मुसलमान भी नहीं मानने को तैयार थे। हमारे दुर्भाग्य से इस समय मुसलमानों में सैकड़ों-हज़ारों भ्रम-पूर्ण युक्तियों का ज़ोर-शोर से प्रचार हो रहा है। इस प्रचार की तह है उन ४४ फ़ी सदी मुसलमानों की अहंमन्यता और स्वार्थपरता, जो ग़रीबों को कुचलकर राजनीतिक सत्ता की बागडोर अपने हाथ में लेकर मनमानी-घरजानी करने को बेताब हो रहे हैं। मुसलमानों में भंगी हैं, क़साई हैं, लोनिया हैं, जोलाहे हैं, दर्ज़ी, तेली, धुनिया और फ़क़ीर भी हैं, मनिहार और गद्दी भी हैं, नट भी हैं। लेकिन सर सैयद अहमद की निगाह में वे मुसलमान नहीं, क्योंकि वे बेचारे अनपढ़ होने के कारण अपने को ग़ैर-मुल्क से आनेवाली "आला" या औसत दर्जे की क़ौम की औलाद साबित करने में अभी तक सफल नहीं हुए हैं।

सर सैयद अहमद को इसकी कोई परवाह न थी, और न उनके अनुयायियों को भी इसकी कोई फ़िक्र है। लेकिन हम हिन्दुस्तानियों की निगाह में तो वे "छोटे" कहे जानेवाले हिन्दू या मुसलमान भाई, "ऊँचे से ऊँचे" परदेशी की तुलना में हज़ारों-लाखों गुना अधिक पवित्र हैं; कहीं अधिक ऊँचे हैं—कहीं अधिक आदर और पूजा के पात्र हैं। इनके एक-एक बाल के मुक़ाबिले में "ऊँचे से ऊँचे" कुलीनों की न कुछ क़ीमत है और न कुछ वक़त। हिन्दुस्तान की मिट्टी से जो पुतला बना और सँवारा गया, वह तो मेरी नज़र में देवता से भी बढ़कर है। लेकिन सैयदी "नज़ीबों" को तो ऐसे मुसलमान रज़ील और हक़ीर ही दिखाई देते हैं। उनकी निगाह में इनका एक ही काम है कि मर्दुमशुमारी में वे मुसलमानों की संख्या को बढ़ायें ताकि "नजीब" मुसलमान उस संख्या के आधार पर सरकारी नौकरियों और संस्थाओं में अधिक से अधिक प्रतिनिधित्व माँगने में समर्थ हों और जब उनकी माँग मान ली जाय, तब वे उसे अपने ही से "नजीबों" में बाँट लें। ग़रीबों की न तो उन्हें कुछ फ़िक्र है और न कुछ ख़बर; न तो उनकी परवाह है और न उनसे कोई सरोकार। उन्हें सरोकार हो या न हो, परन्तु इसमें भी अब कोई संदेह नहीं है कि नजीबों का ज़माना लद गया; अब तो उदय हो रहा है उस युग का, जब संसार के अपाहिजों, मुफ़लिसों और कंगालों को मनुष्यता के ऊँचे से ऊँचे शिखर तक उठने और बढ़ने का मौक़ा मिलेगा। उच्चता, श्रेष्ठता, कुलीनता के कपोल-कल्पित पाखंड का अब युग नहीं रहा। रक्त की विशुद्धता या ख़ून की महत्ता को कोई अब कानी-कौड़ी के बराबर भी नहीं समझेगा। अब तो वास्तव में उस आदमी का आदर होगा, जो अपने परिश्रम से समाज की सेवा करता है, और उसको सुखी बनाने की चेष्टा करता है अपनी मेहनत का मीठा फल देकर।

मुसलमानों की ऊँच-नीच जातियों में, साक्षरता की दृष्टि से, कितना अधिक अन्तर है, इसका यदि आपको पता लगाना है तो पृष्ठ १०१ के आँकड़ों को ध्यानपूर्वक देखिए। उनसे आपको पता लगेगा कि प्रत्येक जाति के एक हज़ार स्त्री-पुरुषों में से कितने १९३१ में ऐसे थे, जो कम से कम अपना नाम किसी भाषा में लिख और पढ़ सकते थे।

पठितों की प्रति-सहस्र संख्या*

जाति	मर्द	औरत
सैयद	३८०	५७
शेख़	१२७	३३
राजपूत	१४३	१४
नव मुस्लिम	५६	४
जुलाहा	५५	५
तेली	४३	२
धुनिया	२७	२
लोनिया	२१	+
नट	२१	२
भंगी	१०	१

ऊपर जो आँकड़े हमने दिये हैं, उनका सम्बन्ध युक्त-प्रान्त से है और १९३१ की मर्दुमशुमारी की रिपोर्ट के ४८० पृष्ठ से वे उद्धृत किये गये हैं। तुलना के लिए हम १९११ की मर्दुमशुमारी की रिपोर्ट से भी मुसलमानों की चार जातियों में हज़ार पीछे साक्षरों की संख्या नीचे के कोष्ठक में दे देते हैं:—

पठितों की संख्या

जाति	मर्द	औरत
सैयद	२७७	३६
शेख़	१०७	१२
जुलाहा	२२	२

ऊपर के आँकड़ों में प्रत्येक पर विशेष रूप से ध्यान देने की आवश्यकता है। १९११ से १९३१ तक की २० वर्ष की अवधि में सैयद मर्दों में पढ़े-लिखों की संख्या २७७ से बढ़कर ३८० प्रतिहज़ार हो गई और सैयद स्त्रियों की भी संख्या १९११ में ३६ से बढ़कर १९३१ में ५७ हो गई।

* नोट—परिशिष्ट (इ) को लेख के अंत में देखने की कृपा पाठक अवश्य करें।

इसी तरह साक्षर शेख़-मर्दों की संख्या १९११ में १०७ से १९३१ में १२७ प्रति-हज़ार और साक्षर औरतों की संख्या १२ से ३३ प्रतिहज़ार हो गई। जुलाहों या मोमिनों के मर्दों में १९२२ में हज़ार पीछे २२ पढ़े-लिखे थे। वे १९३१ में ५५ हो गये और जहाँ उनकी स्त्रियों में १९११ में दो प्रतिहज़ार पठित थीं वहाँ १९३१ में उनकी संख्या ५ प्रतिहज़ार हुई। यह मुसलमानों की उन पिछड़ी हुई जातियों में से एक का हाल है। यह शोचनीय दशा और भी शोचनीय हो जाती है जब हमें यह याद आता है कि इन्हीं पिछड़ी हुई मुसलमान जातियों में शिक्षा के प्रसार के लिए प्रतिवर्ष सूबे की सरकार १० लाख रुपये की विशेष सहायता दिया करती है। यदि इन पिछड़ी हुई जातियों में शिक्षा का काफ़ी प्रचार अब तक नहीं हुआ, बावजूद इसके कि गवर्नमेंट उनके फ़ायदे के लिए वर्षों से १० लाख रुपया देती चली आ रही है, तो इसका कारण सिर्फ़ एक है, और वह यह है कि जिन जातियों के बच्चों के फ़ायदे के लिए यह १० लाख की सहायता दी जाती है उनके बच्चों की पढ़ाई पर यह रक़म नहीं ख़र्च की जाती है, बल्कि ख़र्च की जाती है उन जातियों के बच्चों के पढ़ाने-लिखाने पर जिनमें शिक्षा का यों ही

अध्यापक के पदों पर शेख़, सैयद, मुग़ल, पठानों के अलावा, एक्का-दुक्का छोड़ कर, कोई "नीच" जातिवाला मुसलमान आपको दिखाई देगा। इस्लामिया स्कूल और मकतबों में अधिकांश वे बच्चे होने चाहिए जो इन पिछड़ी हुई जातियों से पैदा हुए हैं। इनमें अध्यापक के पदों पर उन्हीं लोगों को नियुक्त करना चाहिए, जो इन जातियों के हैं। लेकिन आज तक ऐसा न हुआ और न आज भी ऐसा हो रहा है। इसका कारण प्रत्यक्ष है। हिन्दुओं को इन पिछड़ी हुई जातियों का कुछ ज्ञान नहीं है। मुसलमान-नेता, सर सैयद अहमद ख़ाँ के शब्दों में, अपने को परदेश की आला क़ौमों की औलाद समझते हैं। उन्हें हिन्दुस्तान की "रज़ील" क़ौमों के मुसलमानों के साथ कोई हमदर्दी नहीं है। यही कारण है कि न तो हिन्दू और न मुसलमान नेताओं ने इन बेचारों की ओर कभी नज़र उठाई और न उनकी दशा सुधारने की कोई कोशिश की। यही वजह है कि मोमिनों ने अब "बग़ावत" का झंडा उठाया है। उन्होंने समझ लिया है कि उनका इस संसार में कोई मददगार नहीं, उनका कोई साथी नहीं, उनके दुख-दर्द को सुनने को कोई तैयार नहीं। अब वे अपने पैरों के बल खड़े होना चाहते हैं, अपने बाहुबल से अपनी रक्षा करने पर आमादा हैं, अपने पुरुषार्थ से वे अपने उन हक़ों को प्राप्त करना चाहते हैं, जो हिन्दुस्तानी होने के नाते, उनके जन्म-सिद्ध अधिकार हैं।

सदियों से उनकी लापरवाही, उनकी ग़फ़लत और उनके भोलेपन से लोगों ने नाजायज़ फ़ायदा उठाया। लेकिन स्वार्थ और मद के दिन सदा एक ही से नहीं बने रहते। इस नश्वर संसार में ऐसे दिनों का भी अन्त एक न एक दिन हो ही जाता है। युग ने करवट बदली है, और इस करवट बदलने का यह नतीजा है कि मोमिन, क़साई और भंगी आदि मुसलमानों की सोती हुई, पिछड़ी जातियाँ युग के साथ निद्रा को भंग कर आँखें खोलने लगी हैं। आँखें खोलते ही उन्होंने देखा कि दुनिया जीवों की है, मद और स्वार्थ की है, सबल की है; निर्बल की नहीं, प्रभुओं की है; ग़ुलामों की नहीं। उन्होंने यह देखा और देखकर मन में यह बात ठान ली है कि अगर दुनिया ग़ुलामों की नहीं है, वह सिर्फ़ उन्हीं की हो सकती है जो प्रभु हों, तो वे भी अब ग़ुलाम होकर न रहेंगे। वे ख़ुद प्रभुओं के आसन पर जा बैठेंगे, और जिन्होंने आज तक उनके साथ

अत्याचार किया है, उनको कुचला और रौंदा है, उनको शक्ति के सिंहासन से ढकेलकर वे अब नीचे उतार देंगे।

अब आइए, देखें कि सरकारी नौकरियों में मुसलमानों की "कुलीन" और "निम्न" जातियों की दशा में क्या अन्तर है। इस सूबे में सरकारी नौकरियाँ पाँच श्रेणियों में विभक्त हैं—(१) गज़टेड आफीसर, (२) "नान" गज़टेड आफीसर, (३) "सबार्डिनेट" सर्विस (४) "सुपीरियर सर्विस" और (५) इनफीरियर सर्विस। नीचे के कोष्टक में मुसलमान-मुलाज़िमों की संख्या दी जाती है:—

श्रेणी		मुस्लिम मुलाज़िमों की संख्या
(१) गज़टेड सर्विस	...	२८०
(२) नान गज़टेड ,,	...	१६,५३३
(३) सबार्डिनेट ,,	...	५,७१३
(४) सुपीरियर ,,	...	६४५
(५) इनफीरियर ,,	...	८,२४१
कुल	...	३१,४१२

के एतवार से अध्यापक के पद दिये जाते हैं और न उनके बच्चों के पढ़ाने की कोई ख़ास तज़वीज़ की जाती है।

लेख के अन्त में हम एक परिशिष्ट (अ) के रूप में एक कोष्टक दे रहे हैं, जिसमें चुनी हुई मुस्लिम जातियों के सरकारी नौकरियों की विभिन्न श्रेणियों में नियुक्त आदमियों की संख्या दी गई है। पाठकों को उन बहुत-सी बातों का फ़िर एक बार पता लगेगा जिसका संकेत उनको हिन्दुओं की 'दलित जातियों' के सम्बन्ध में मिल चुका है। हिन्दुस्तान में दो श्रेणियाँ—हिंदू और मुस्लिम—अनादि काल से चली आती हैं। अनादि काल से नीच कहलानेवाली बहुसंख्यक जातियों के कन्धों पर सवार होकर "कुलीन" कहलानेवाले उनको पीसते, कुचलते, दलते चले आये हैं। नीचेवालों की कमाई ऊपरवालों ने सदा से खाई। मेहनत-मसक़्क़त का काम सौंपा गया नीचेवालों को; लेकिन उस मेहनत की कमाई को ऊपरवालों ने हड़पकर ऐशो-आराम से अपनी ज़िन्दगी बसर की। जो हाल हिंदुओं का है, वही मुसलमानों का है। दोनों ही सम्प्रदायों की "नजीब" या "कुलीन" कहलानेवाली जातियों ने अपने अपने "रज़ीलों" को अपने स्वार्थ के लिए सदा पेरा, नोचा-खसोटा। इसलिए कि वे अपने आपको सदा से यह समझते चले आये हैं कि भगवान् ने उन्हें पैदा ही इसलिए किया है कि वे अपने कमज़ोर भाइयों के ऊपर हुकूमत करें। बड़ी मछली छोटी मछली को समुन्दर में खाती है, और उससे बड़ी मछली उसको खाती है। यही संसार का नियम है। ऐसा कुलीनों का कहना है। इसी को वे "मत्स्य-न्याय" कहते हैं। लेकिन वे भूल जाते हैं कि "मत्स्य-न्याय" के साथ ही साथ अनादि काल से विश्व में संघ-न्याय का भी बोलबाला रहा है। सिंह परम शक्तिशाली होता है। पञ्जे की एक चपेट से मज़बूत से मज़बूत धागे को वह तोड़ सकता है; लेकिन बहुत-से धागों को मिला कर यदि हम एक रस्सी में बट लें तो धागों के इस संगठित संघ में इतनी शक्ति आ जाती है कि एक नहीं, अनेक सिंह इसमें आसानी से बाँधे जा सकते हैं और बाँधकर आसानी से पिंजड़े में डाल दिये जा सकते हैं। "मत्स्य-न्याय" का शिकार अभी तक की दलित जातियाँ होती चली आई हैं। इसी मत्स्य-न्याय ने हिंदुस्तान की बहुत बड़ी आबादी को "दलित" बना रक्खा है, लेकिन इन दलितों को सतानेवाले अब सचेत हो जायँ, क्योंकि दलितों के कमज़ोर धागों को काल के कराल

हाथ दुर्दमनीय संघ के रस्से में तेज़ी से बट रहे हैं। रस्से के बटने को अब कोई शक्ति रोक नहीं सकती। उस रस्से के तैयार होने में अधिक विलम्ब भी नहीं है। दीनों को सतानेवाले, दुखियों को रुलानेवाले अपनी ख़ुदग़र्ज़ी को, यदि चाहें तो, अब भी त्याग दें; चाहें तो अभी समय है पश्चात्ताप का, और बिगड़े को बनाने का। नहीं तो उनकी सत्ता के अन्त की वेला आ पहुँची है और इतिहास का यमराज आज दिन हाथ में फ़सरी लिये हुए उनकी ओर क़दम बढ़ाता चला आ रहा है।

यहाँ तक तो इन मुस्लिम दलित जातियों की दशा का वर्णन हुआ। इसको सुधारने के लिए क्या करना उचित है? कुछ लोग नीचे लिखी बातों की ओर ध्यान दिलाना चाहते हैं :—

(१) १० लाख रुपये की सरकारी इमदाद इन्हीं 'दलितों' की पढ़ाई पर ख़र्च होना चाहिए और इन्ही जातियों के मुदर्रिस इन बच्चों के स्कूलों में रक्खे जायँ?

(२) स्थानिक संस्थाओं में इनको उचित संख्या में प्रतिनिधित्व मिलना चाहिए और इस पर विचार करना चाहिए कि क्या संरक्षण ज़रूरी है?

(३) जब तक सम्प्रदाय के आधार पर देश में चुनाव की प्रथा जारी है तब तक 'दलितों' के संरक्षित निर्वाचन का प्रबन्ध लाज़िमी है?

(४) डिस्ट्रिक्ट बोर्डों की शिक्षा-कमेटियों में इन्हीं के प्रतिनिधि अधिक संख्या में होने चाहिए?

(५) नौकरियों—सरकारी अथवा बोर्डों की—में इन्हीं जातियों के आदमियों को अधिक से अधिक संख्या में लेना चाहिए?

ये केवल विचारार्थ प्रस्ताव-मात्र हैं। मैं इनके विषय में कुछ नहीं कहना चाहता। अपना रास्ता 'दलितों' के नेताओं को स्वयमेव निश्चित करना है। मेरा काम तो मसले के असली रूप को पाठकों के सामने रख देना भर है। हिंदुओं के 'दलितों' की दशा, इनसे कम नहीं, अधिक शोचनीय है। उनके विषय में आगे चलकर मैं लिखूँगा। मेरी दृष्टि में कमज़ोरों का पीडन देश और समाज के प्रति

घोर पातक है, जाति के लिए कलंक भी है। अतएव इन सबकी दशा सुधारना राष्ट्रीयता की वृद्धि और संसार की प्रगति में बहुत ही बड़ी मदद पहुँचाना है।

परिशिष्ट (अ)

मुसलमानों की विभिन्न जातियाँ *

१	सैयद	६,४३१
२	मुग़ल	७६८
३	शेख़	१२,३८०
४	पठान	६,६२३
५	राजपूत	७३०
६	नौ मुसलमान	२००
७	मोमिन	२६२
८	मनिहार	४३
९	दर्ज़ी	३२
१०	लुहार	४
११	तेली	३५
१२	कुँजड़ा	६
१३	क़स्साब	३८
१४	गूजर	६३
१५	तुर्क	८
१६	लोध	२
१७	मेव	४१
१८	मल्लाह	२
१९	भिश्ती	७७
२०	गद्दी	३१
२१	लुनिया	४

* नोट—कोष्ठक में प्रत्येक जाति के सरकारी मुलाज़िमों की संख्या दी गई है।

२२ धुनिया	...	...	६३
२३ नाई-हज्जाम	...	...	७८
२४ मुस्लिम भट्ट	...	...	७
२५ फ़क़ीर	...	...	१०
२६ मेवाती	...	...	२
२७ डफ़ाली	...	...	१
२८ टागा	...	...	८
२९ बंजारा	...	...	१
३० घोसी	...	...	३
३१ छिपी	...	..	३
३२ रईन	...	...	१
३३ धोबी	...	...	३
३४ रङ्गराज	...	...	१
३५ हज्जाम	...	..	५
३६ संत	...	...	२
३७ दाई बचोहा	...	..	१
३८ कासगर	...	...	१
३९ कम्बोह	...	...	४
४० जाट मुस्लिम	...	...	२५
४१ बिलोची	...	...	६
४२ रैन	...	...	१
४३ आवान	...	...	१०
४४ खोकर	...	...	१
४५ क़ाज़ी	...	...	१
४६ दर मुस्लिम	...	..	१
४७ महेशरा मुस्लिम	...	...	२
४८ मायार	...	...	१
४९ अफ़ग़ान	...	...	२

५० रंघर	...	१
५१ चौधरी	...	१
५२ पंजाबी मुस्लिम	...	१
५३ रांझा	...	१
५४ सूदान	...	२
५५ सानी शाह	...	१
५६ दरवेश	...	१
५७ चकई	...	१
५८ नदफ़	...	१
५९ अनसारी *	...	३
६० गढ़	...	६
६१ मलिक	...	१
६२ बेजात	...	४

* नोट—"मोमिन" को 'अनसार' या 'अनसारी' अथवा 'जुलाहा' भी कहते हैं।

परिशिष्ट (इ)

मुस्लिम जातियाँ †

जाति		पुरुष	स्त्री
सैयद	...	१,३४,०००	१,१९,०००
मुग़ल	...	२६,०००	२२,०००
शेख़	...	६,९९,०००	५,८८,०००
पठान	...	४,७३,०००	४,०९,०००
जाट	...	११,०००	९,०००
नौ-मुसलमान	..	३६,०००	३३,०००
जुलाहा	...	४,१६,०००	३,७६,०००
मनिहार	...	४५,०००	४१,०००
दरज़ी	...	१,१३,०००	९३,०००

† नोट—सब आँकड़े हज़ार के पूर्णांकों में हैं।

जाति		पुरुष	स्त्री
लोहार	.....	२,५५,०००	२,२१,०००
तेली	....	४,२८,०००	३,८०,०००
राजपूत	...	८६,०००	७७,०००
कुँजड़ा	...	३७,०००	३३,०००
क़स्साब	...	७६,०००	६०,०००
गूजर	...	३६,०००	३५,०००
तुर्क	...	२८,०००	३१,०००
धुनिया	...	१,६८,०००	१,५२,०००
लोध	...	४,७१,०००	४,०६,०००
मेव	...	१४,०००	१०,०००
मल्लाह	...	१,१३,०००	१,१६,०००
लुनिया	...	१,८८,०००	१,८१,०००
भिश्ती	...	४२,०००	३६,०००
गद्दी	...	३७,०००	३०,०००
कुल जोड़	...	३५,४८,०००	३४,७४,०००

साक्षर		प्रतिहज़ार	
पुरुष	स्त्री	पुरुष	स्त्री
५१,०००	१०,०००	३८०	६०
७,०००	१	२६० ...	५०
६,३०,०००	१६,०००	१६० ...	३०
७०,०००	६,०००	१५० ...	२०
†	†	८० ...	†
२,०००	११६	६० ...	४
२३,०००	२,०००	५०	३
२,०००	८८	५०	२
६,०००	३४५	५०	४
१२,०००	३३४	५० ...	२

† अप्राप्य

साक्षर पुरुष	साक्षर स्त्री	प्रतिहज़ार पुरुष	प्रतिहज़ार स्त्री
१८,०००	६६६	४०	२
†	†	१८०	†
२,०००	१६२	४०	६
३,०००	२३७	३०	४
†	†	३०	†
१,०००	४३	२०	१
४,०००	२३१	३०	२
११,०००	२७३	२०	७
१०,०००	४८	२०	५
३,०००	३५	२०	३
४,०००	६३	२०	३
०,८०६	८०	१०	२
०,५०२	६८	१०	३

हिन्दुओं के दलित

हिंदुओं के दलितों की समस्या धार्मिक कलंक और राजनीतिक अत्याचार की एक अकथ कहानी है। मनुष्य की अहंमन्यता और असहिष्णुता का इससे अधिक भयंकर उदाहरण शायद ही कहीं मिले। यह ठीक है कि अमेरिका और अफ्रिका के गोरे श्याम-वर्ण हब्शियों के साथ उसी तरह का नृशंस और बर्बर बर्ताव करते हैं, जिस तरह के बर्ताव से मिलता-जुलता व्यवहार हम अपने दलितों के साथ किया करते हैं। जातीय महत्ता का घमंड और सांपत्तिक स्वार्थ इस तरह के कुत्सित कलंक की जड़ में निहित है। मनुष्य ने मनुष्य को लूटने-खसोटने में अपनी सारी शक्ति अनादि काल से लगा रक्खी है। इन्हीं पुराने पापों का फल हम आज भोग रहे हैं, और जिन पापों के कारण आज हमारी दुर्दशा हो रही है, उन्हीं के प्रति, युग-युगांतर के संपर्क से, हमारे हृदयों में इतनी घनी ममता हो गई है कि हमें अब भले-बुरे का ज्ञान भी नहीं रह गया। रोगी को जैसे अपने रोग से प्यार हो जाता है, वैसे ही हिंदू-समाज को सामाजिक दलन से अनुराग हो गया है। लाखों ऐसे हिंदू आज दिन हमें मिलते हैं, जो अंत्यज-प्रथा को चिर-स्थायी बनाये रखने ही में धर्म और समाज का हित समझते हैं। उन्हें यह नहीं सुझाई देता कि जो दूसरों को दबाता है, उसे ख़ुद ग़ैरों का ग़ुलाम बनने के लिए विवश होना पड़ता है। वे आज भी यही समझे बैठे हैं कि पाप पुण्य है, और अत्याचार न्याय-संगत—यदि पाप और अत्याचार के पात्र वे ख़ुद न बनें, बल्कि दूसरे हों। हिंदू-समाज के दलितों की कहानी हमारे धार्मिक पतन और सामाजिक संकीर्णता का एक करुण अध्याय है। समाज के सामने दो ही रास्ते हैं—एक जीवन का और दूसरा मृत्यु का। हिंदू-समाज को यदि जीना है, तो उसे अंत्यज-प्रथा को समूल नष्ट कर देने का न केवल संकल्प कर लेना चाहिए, अपितु अल्प से अल्प अवधि में उसकी जड़ों को खोद फेंकने में पूर्ण शक्ति से लग जाना चाहिए।

⁂

सूबे में हिंदू-दलितों की कितनी संख्या है? इसके दो उत्तर संभव हैं। कुछ लोगों का कहना है कि कुल आबादी में वे २६ सैकड़ा हैं। दूसरों की राय में उनकी संख्या केवल २१ सैकड़ा है। शिक्षा में कौन पिछड़े हैं, इस पर विचार करते हुए हमने हिंदू-दलितों की संख्या २१ सैकड़ा मानी थी। लेकिन इस लेख में हम प्रांतिक मनुष्य-गणना (१९३१) की रिपोर्ट का, आँकड़ों के मामले में अनुसरण करेंगे, यद्यपि यहाँ यह कह देना अनुचित न होगा कि रिपोर्ट के लेखक ने जान-बूझकर ऐसे लोगों की तादाद बढ़ाकर दिखाई है। गवर्नमेंट ने भी इन लेखक महोदय की संख्या ठीक नहीं मानी। सन् १९१७ से, जब यह मसला पहली बार उठा था, सरकारी रिपोर्टों में दलितों की संख्या में उत्तरोत्तर वृद्धि होती चली आई है। राजनीतिक प्रपंच, सम्भव है, इसके लिए ज़िम्मेदार न हो। यह भी संभव है कि प्रत्येक छान-बीन से नई-नई बातों का पता लगता गया हो, जिसके कारण दलितों की श्रेणी में वे जातियाँ भी शामिल कर ली गई हों, जो पहले की जाँचों में छूट गई हों। कारण कुछ भी रहा हो, इससे हमें यहाँ सरोकार नहीं। हमें तो सरोकार इस बात से है कि इस प्रांत की मनुष्य-गणना (१९३१) की रिपोर्ट में दलितों की संख्या कुल आबादी की २६ प्रतिशत मानी गई है। इसी संख्या को इस लेख के लिए हम सही मान लेंगे, यद्यपि गवर्नमेंट ने २६ के स्थान में २१ ही को सही स्वीकार किया है।

* * *

रिपोर्ट के अध्याय १२, पृष्ठ ५३४ पर युक्तप्रांत के ४८ ज़िलों में रहनेवाले सनातनी हिन्दुओं की संख्या ४ करोड़ ३५ लाख मानी गई है, जिनमें से १ करोड़ २८ लाख दलित थे। लेकिन इसी अध्याय के परिशिष्ट १ में (पृष्ठ ६३६-३८) इनकी संख्या १ करोड़ २६ लाख बताई गई है। अस्पृश्य दलितों की संख्या केवल १ करोड़ १२ लाख है। इस हिसाब से स्पृश्य दलित आदमियों की संख्या १६ या १४ लाख बैठेगी? अस्पृश्यों में ६६ और स्पृश्यों में ९ जातियाँ हैं। ११२ लाख अस्पृश्य दलितों में चमार ६२, शिल्पकार २॥, डोम १, भर ४॥, खटिक २॥, धोबी ६॥, भंगी ४॥। और कोरी ९ लाख हैं। पासियों की संख्या

लगभग १४॥ लाख है। इन्हीं आँकड़ों को हम पाठकों की सुविधा के लिए कोष्ठक-रूप में नीचे दे रहे हैं—

(आँकड़े हज़ार में)

जाति का नाम	संख्या
१—चमार	६१, ६७
२—पासी	१४, ४६
३—कोरी	६, १६
४—धोबी	६, ५७
५—भंगी	४, ७७
६—भर	४, ६१
७—शिल्पकार	२, ५२
८—खटिक	२, ३८
९—डोम	१, ०६
जोड़	१,०७, ५३

अस्पृश्य दलितों की ६६ जातियों में से ऊपर के कोष्ठक में दी हुई ९ जातियों की सम्मिलित संख्या १ करोड़ ७ लाख है। अर्थात् यदि सूबे के कुल दलितों की संख्या हम ले लें, तो उनमें से प्रत्येक १३ आदमियों में से ११ आदमी ऐसे मिलेंगे, जो कोष्ठक में वर्णित ९ जातियों में से किसी एक जाति से सम्बन्धित होंगे। यदि केवल अस्पृश्य दलितों ही को हम लें, तो उनमें से प्रत्येक ११ आदमियों में से १० आदमी ऐसे होंगे, जिनका इन ९ प्रमुख जातियों से सम्बन्ध है। इससे यह स्पष्ट है कि ६६ में से ९ को छोड़कर शेष ५७ अस्पृश्य जातियों की जन-संख्याएँ इन ९ जातियों की तुलना में अत्यन्त

स्वल्प हैं। स्पृश्य दलितों की आबादी लगभग १६ लाख थी। उनमें ६ जातियाँ हैं। नीचे के कोष्ठक में प्रमुख जातियों की जन-संख्याएँ हम दे रहे हैं—

(आँकड़े हज़ार में)

जाति का नाम	संख्या
१—कुम्हार	७, ६१
२—लुनिया	४, ६४
३—अरख	८६
४—बेलदार	४४
५—थारू	३२
जोड़	१३, ८७

कुम्हार और लुनियों की सम्मिलित संख्या १२। लाख होती है। स्पृश्य दलितों में इनकी गणना करना दलितों की संख्या को कृत्रिम ढङ्ग से बढ़ाने की चेष्टा-मात्र है। इसी तरह धोबी जाति को अस्पृश्य दलित कहना सरासर भ्रांति-मूलक है। यदि दलितों की संख्या में से इन तीन जातियों को हम निकाल दें, तो १२६ लाख के स्थान में दलितों की संख्या तुरन्त १ करोड़ के नीचे पहुँच जाती है। यह तो इस बात का केवल एक उदाहरण है कि दलितों की संख्या को अधिक से-अधिक दिखाने की नीयत से दलित जातियों की फ़ेहरिस्त तैयार करने में कितनी धाँधली से काम लिया गया है।

* * *

दलित हमारे समाज में, सांपत्तिक दृष्टि से, सबसे अधिक निकृष्ट, निर्बल और निस्सहाय हैं। इनकी बेबसी, दीनता और बरबादी का मुख्य कारण है इनकी साम्पत्तिक दीनता। दुनिया में मान का माप-दंड है थैली की लम्बाई। जिसके पास जितने ही अधिक पैसे हैं, उसका समाज में उतना ही अधिक मान है। इन लोगों के पास न तो जोतने को ज़मीन है, और न रहने के लिए महल या पक्के

मकान। टूटी-फूटी झोपड़ियों में, और सो भी गन्दे मुहल्लों में, ये लोग किसी तरह अपना जीवन-निर्वाह करते हैं। धनाभाव के कारण इनमें शिक्षा का भी बहुत कम प्रसार है। इनके रहन-सहन का ढंग भी बहुत ख़राब होता है। परन्तु इसके लिए तो इन्हें दोषी ठहराना अनुचित होगा। यह ठीक है कि इनमें भी सबकी सांपत्तिक दशा एक समान नहीं। किन्हीं-किन्हीं की हालत दूसरों की तुलना में अच्छी है। लेकिन दलित जातियों की औसत आमदनी अन्य जाति-वालों की औसत आमदनी की अपेक्षा बहुत ही थोड़ी होती है। समाज से बहिष्कृत, धर्म के नाम पर कलङ्कित, ये मनुष्यों में मनुष्य नहीं गिने जाते।

* * *

अस्पृश्य कौन हैं? अस्पृश्य वे हैं, जिन्हें छूने से ऊँची जातिवाले अपने को अशुद्ध समझने लगते हैं। इन ग़रीबों के संपर्क से न केवल मनुष्यों को छूत लग जाती है, बल्कि इनसे हमारे देवी-देवताओं तक को छूत का भय है। मन्दिरों में पैर रखने की इन्हें इजाज़त नहीं, इसीलिए कि जो पतित-पावन हैं, जिनके दर्शन से कुलीनों को अपने पापों के मोचन की आशा और विश्वास है, जो अनाथों के नाथ और दीनों के प्रति दयालु के नाम से भजे और पूजे जाते हैं, वह भी अस्पृश्यों के स्पर्श की कौन कहे, उनके सान्निध्य-मात्र से—कुलीनों की धारणा है—छूत हो जाते हैं। भगवान् को छूत लगे या न लगे, पर इसमें कोई संदेह नहीं कि कुलीनों ने अपने दलितों से इस संसार में उठने के सब साधनों को तो बल-पूर्वक छीन ही लिया था; लेकिन इतने से भी उन्हें संतोष न हुआ, उन्होंने उन्हें अपने धर्म में ऐसा पद दिया, जिसमें परलोक भी कुलीनों ही का परलोक बना रहे। जो भगवान् दीनदयालु है, उसे इन कुलीनों ने केवल कुलीनों का भगवान् बना डाला। दीनदयालु से वह कुलीन-दयालु हो गया। धर्म की दृष्टि में न कोई कुलीन है और न कोई नीच। सब प्राणी समान हैं। सभी पर भगवान् की समान कृपा है। कुलीन तो भगवान् से कहने का दावा रखता है—

"आपने करम करि हौं ही निबहौंगो, तौब
हौं ही करतार, करतार तुम काहे के?"

लेकिन यही कुलीन महाशय अपने दलित भाई से भिड़ककर कहते हैं—"तू मन्दिर के भीतर पैर कैसे रख सकता है? अगर तरना चाहता है, तो असंभव को संभव कर दिखा। अपना करतार ख़ुद बन, तेरे लिए हमारे भगवान् करतार नहीं हैं।" जो कुलीन महाशय केवल अपने कर्मों के फल से स्वर्ग तक पहुँचने की आशा नहीं करते, वे ही जब दलितों को इस असंभव काम को संभव कर दिखाने की आज्ञा देते हैं, तब यही कहना पड़ता है कि कुलीन दलित को परलोक में भी आनन्द भोगने की संभावना से वंचित रखना चाहता है। मन्दिर में दलित के जाने से भगवान् को छूत लग जायगी, यह तो कुलीनों का मन-गढ़न्त तर्क है, ढोंग और प्रपंच है; अपने कपट को छिपाने की महज़ चाल है। इनकी असली मंशा है कि दलितों को इस लोक में दबाये रक्खें, और परलोक को भी उनकी छूत से गन्दा न होने दें। धार्मिक विडम्बना को धर्म समझना अपनी आत्मा को धोखा देना और दूसरों को भटिलाना है। अधर्म को हिन्दुओं ने धर्म समझ रक्खा है, और धर्म को अधर्म बना डाला है। यह कोई नई बात नहीं। सब युगों और सब समाजों में प्रभुओं ने धर्म को अपने दासों को मूड़ने, लूटने-खसोटने और अत्याचारों द्वारा पीड़ा पहुँचाने का साधन बनाया है। एक उर्दू-कवि ने ठीक ही कहा है—

मंदिर, मस्जिद, सबके अंदर
राज ग़ुलामी करती है;
दौलत लेकर नाम ख़ुदा का
घर-घर धरना धरती है।

मंदिर-प्रवेश का निषेध हिंदू-धर्म का सबसे बड़ा कलंक है; हमारे समाज का सबसे बड़ा पाप है, जिसके कारण हिंदू-समाज की आत्मा बल-हीन और मृत-प्राय हो गई है। इस पाप का प्रायश्चित्त, इस कलंक का परिशोध, इस अत्याचार का प्रतिकार जब होगा, तभी हिंदू-समाज में नवजीवन संचार संभव है, अन्यथा नहीं। जिस धर्म के नाम पर इतनी बड़ी निर्दयता के साथ अपने ही भाइयों की आत्माओं की जघन्य हत्या के हम भागी बनते हों, वह धर्म नहीं; साक्षात् अधर्म है; वह पुण्य नहीं, विशुद्ध पापाचार है। आग लगे ऐसे धर्म को, सत्यानाश हो उस समाज का, जो इस अधर्म धर्म को धर्म समझे। हिंदुओं को यदि जीवित

रहना है, तो उन्हें अपने इस पाप का प्रायश्चित्त करना चाहिए, झूठे प्रपंचों को भुला देना चाहिए, असत्य मार्ग छोड़कर सत्पथ ग्रहण करना चाहिए, तभी संभव है भगवान् के कोपानल से भस्म हो जाने से हमारा बचाव; अन्यथा मौत की घाटी का द्वार हमारे लिए खुला है, और काल-रूपी अजगर हमें निगल जाने के लिए मुँह बाये बैठा है ! दलितों के साथ सहानुभूति नहीं, बल्कि निज स्वार्थ की चिंता हमें यह काम करने के लिए विवश कर रही है। इस सलाह को सुनी-अनसुनी कर देना आत्महत्या करना होगा। हरि तो तभी प्रसन्न हो सकते हैं, जब हरिजन को हम गले लगायें। उनसे तो माल-मुल्क ही मिलता है, इनसे स्वयं हरि तक हम पहुँच पाते हैं।

* * *

अस्पृश्य दलितों की कुल आबादी, जैसा ऊपर कहा जा चुका है, १ करोड़ १२ लाख है, जिनमें कुछ कम ५७॥ लाख मर्द और लगभग ५४॥। लाख औरतें हैं, अर्थात् ५७ मर्दों में ५५ औरतें हैं, या ऐसे प्रत्येक १ हज़ार व्यक्तियों में ५०६ मर्द और ४६१ औरतें हैं। इस बात का महत्त्व समझने के लिए कुछ अन्य जातियों के साथ चमार और पासियों की स्त्री-पुरुषों की संख्या की हम तुलना करें :—

जाति	१,००० मर्द पीछे औरतों की संख्या		
	१९३१	१९२१	१९११
भर	९८५	१,०००	१,०२६
डोम	९७९	९०४	९३८
पासी	९५७	९४६	९५७
चमार	९५७	९६०	९५८
ब्राह्मण	८८२	८९५	८९९
राजपूत	८६६	८७७	८७३
सैयद	९००	९३७	९२८
जुलाहा	९१९	९२२	९९५

चमारों और पासियों में, १९११ में, फ़ी हज़ार मर्द पीछे औरतों की जितनी संख्या थी, उतनी ही १९३१ में बनी रही। लेकिन ब्राह्मणों, जुलाहों, राजपूतों और भरों में स्त्रियों की संख्या, १९११ को देखते हुए, १९३१ में

घट गई। ब्राह्मणों और राजपूतों में, १९११ में भी, पुरुष काफ़ी अधिक और स्त्रियाँ काफ़ी कम थीं। लेकिन १९३१ में यह घटी घटने के बजाय बढ़ गई। जाति में स्त्रियों की कमी होने के कारण अनेक परिवर्त्तन हुआ करते हैं। उसकी वृद्धि की गति इस कमी के कारण मारी जाती है। आचरण की भ्रष्टता और यौनिक दुराचार में वृद्धि होती है। ऐसी जातियों का भविष्य संकटमय होता है। ऊपर के आँकड़े इस बात की चेतावनी देते हैं कि भविष्य में क्या सामाजिक उलट-पुलट होनेवाला है। और, यदि ऊँच जातियों ने इस चेतावनी से लाभ उठाकर अपनी सामाजिक प्रथाओं में आवश्यक सुधार न किये, तो उन्हें अपनी इस मूर्खता का दंड भोगना पड़ेगा। यह संतोष की बात है कि हमारे चमार और पासी भाइयों में स्त्रियों की संख्या पुरुषों के मुक़ाबिले नाम-मात्र ही को कम है।

सूबे के कुल सनातनी हिंदुओं और मुसलमानों के मर्द-औरतों की संख्या के साथ चमार और पासियों के स्त्री-पुरुषों की संख्या की तुलना कीजिए :—

जाति	१,००० मर्द पीछे औरतों की संख्या		
	१९३१	१९२१	१९११
सनातनी हिन्दू	९०४	९०८	९२३
मुस्लिम	९००	९१२	९२१
अस्पृश्य दलित कुल	९६५	—	—
चमार	९५७	९६०	९५८
पासी	९५७	९४६	९५७

ऊपर के कोष्ठक से मुसलमानों की तुलना में १९११ और १९२१ में हिंदू-स्त्रियों की संख्या कम, लेकिन १९३१ में कुछ अधिक हो गई। सनातनी

हिन्दू और मुसलमानों से तुलना करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि दलितों में स्त्रियों की संख्या, १६३१ में काफ़ी अधिक थी। लेकिन यह भी स्पष्ट है कि चमारों और पासियों में स्त्रियों की संख्या उतनी नहीं है, जितनी सब दलित जातियों में स्त्रियों की औसत संख्या है। मुसलमानों में स्त्रियाँ क्यों इतनी कम हैं, इसके विवेचन की यहाँ ज़रूरत नहीं। लेकिन चमारों और पासियों में उतनी स्त्रियाँ भी न हों, जितनी सूबे के अस्पृश्य दलितों में मिलती हैं, यह अवश्य अचरज की बात है। साधारणतया दलित जातियों में स्त्रियों की संख्या पुरुषों की संख्या के बराबर होनी चाहिए। लेकिन ऐसा नहीं है। सांपत्तिक हीनता ही इसका मुख्य कारण हो सकती है। सामाजिक कुप्रथाओं का भी प्रभाव इस कमी के लिए ज़िम्मेदार अवश्य है।

* * * *

स्पृश्य और अस्पृश्य दलित शिक्षा में बहुत पिछड़े हैं। इस सूबे में ऐसे लोगों की संख्या अनुमानतः १ करोड़ २६ लाख मानी गई है। इनकी तालीम में अतिरिक्त ख़र्चे के लिए २॥ लाख रुपये सालाना की सहायता सूबे की सरकार देती है, और मुसलमानों की, जिनकी संख्या सूबे में केवल ७२ लाख है, तालीम में ४॥ लाख की अतिरिक्त सहायता सरकार से दी जाती है। तालीम के लिहाज से मुसलमान जब सनातनी हिंदुओं से आगे हैं, तो दलितों की उनसे तुलना करना उनका अपमान करना होगा। जो शिक्षित हैं, उन्हें और भी अधिक शिक्षित करने की सरकार को इतनी तीव्र चिंता है, यद्यपि मुसलमानों की माली हालत सनातनी हिंदुओं की माली हालत की तुलना में कहीं अधिक अच्छी है। लेकिन दलितों की ओर से जनता और सरकार वर्षों तक उदासीन रही। कुछ सालों से लोगों का ध्यान इनकी ओर झुकने लगा, तो भी जो कुछ इनके लिए किया जाता है, वह जलते हुए तवे पर पानी की एक बूँद के समान है। इनकी माली हालत अत्यन्त शोचनीय है, और शिक्षा का तो इनमें प्रायः अभाव-सा ही है। इस जाति के सुधार और उत्थान के लिए यह परमावश्यक है कि शासन और समाज, दोनों ही अपनी भरपूर ताक़त लगा दें, और जो रकम आज इनकी शिक्षा पर ख़र्च होती है, कई गुना बढ़ा दी जाय। २॥ लाख की सहायता नगण्य है, तुच्छ है, कुछ न करने के बराबर है। विषय की महत्ता और जल्द-से-जल्द दलितों में शिक्षा-प्रचार की

अनिवार्यता को नीचे दिये हुए आँकड़े जितने बल-पूर्वक बताते हैं, उतने ज़ोर के साथ मेरे किन्हीं शब्दों में बताने की सामर्थ्य नहीं।

सन् १९२७ के आँकड़ों को पहले लीजिए—

शिक्षा पानेवाले दलितों की संख्या

	प्राइमरी	मिडिल	हाईस्कूल	कालेज
१. लड़के २. लड़की	८८, ३८३	१,२६७	४२	१०

ऊपर के आंकड़े हरटाग कमेटी की रिपोर्ट से लिये गये हैं। यह कमेटी साइमन-कमेटी की एक उप-कमेटी थी। इसने भारतवर्ष में शिक्षा-प्रसार की गति की जाँच की थी। इस कमेटी के अनुसार इस सूबे में दलितों की आबादी लगभग ७९ लाख थी। इसी को बढ़ाकर मनुष्य-गणना (१९३१) के अध्यक्ष ने अपनी रिपोर्ट में १ करोड़ २६ या २८ लाख बताया है। हिंदू-जाति को छिन्न-भिन्न करने के साधनों का यह भी एक नमूना है। ख़ैर, यहाँ इन बातों के उठाने से कोई लाभ नहीं। इसी हरटाग-कमेटी की रिपोर्ट से हमें पता चलता है कि जहाँ १९२२ में दलित विद्यार्थियों की कुल संख्या कुछ कम ४०,००० थी, वहाँ १९२७ में ९१,००० तक पहुँच गई। इन पाँच वर्षों में ऐसे विद्यार्थियों की संख्या में १२८ प्रतिशत वृद्धि हुई। सूबे के सब विद्यार्थियों की संख्या में, इसी अवधि में लगभग ३३ फ़ी सदी वृद्धि हुई अथवा सूबे की औसत वृद्धि की तुलना में दलित शिक्षार्थियों की संख्या में चौगुनी वृद्धि थी।

* * *

सन् १९२२ में यदि सब प्रकार के विद्यालयों में दलित विद्यार्थियों की संख्या ४० हज़ार और १९२७ में ९१ हज़ार थी, तो १९३२ में १ लाख २६ हज़ार और १९३८ में १ लाख ६७ हज़ार थी। इन आँकड़ों की सन् १९२२ के आँकड़ों से तुलना कीजिए, तो पता लगेगा कि सन् १९२२ से सन् १९३८ के

बीच में विद्यार्थियों की संख्या में १ लाख २७ हज़ार की वृद्धि हुई। इसे संतोष-जनक कहना अनुचित होगा। सूबे की आबादी ४ करोड ८४ लाख है, जिनमें से १९३८ में १४ लाख २६ हज़ार बालक-बालिकाएँ सब तरह की संस्थाओं में शिक्षा पा रही थीं, यानी आबादी के प्रत्येक १०० व्यक्तियों में से तीन को किसी-न-किसी प्रकार की शिक्षा दी जाती थी। लेकिन प्रत्येक १०० दलितों में केवल १·३ व्यक्ति पढ़ते थे। इन १·३ प्रतिशत शिक्षा पानेवाले दलितों की तुलना कीजिए मुसलमानों से, जिनमें ७ प्रतिशत पाठशालाओं और कालेजों में थे, उच्च जातिवाले हिन्दुओं से, जिनमें भी ६ प्रतिशत पढ़ रहे थे। ऐसी दशा में संतोष प्रकट करना महज़ ढोंग होगा। इन आँकड़ों को देखकर हमें तो अपनी उदासीनता पर लज्जा आती है। इस ओर तो अभी हमें बहुत बड़े मार्ग को तय करना है। और, जब तक हम दलितों को कम-से-कम वहाँ न पहुँचा दें, जहाँ हिन्दुओं की उच्च कही जानेवाली जातियाँ शिक्षा के मामले में पहुँच चुकी हैं, तब तक हमारी लापरवाही का कलंक हमारे मत्थे से कदापि मिट नहीं सकता।

मुझे मालूम है कि समय-समय पर शिक्षा-मन्त्रियों और अन्य सार्वजनिक कार्य-कर्ताओं ने ऊपर के आँकड़े देखकर संतोष प्रकट किया है। लेकिन हमारी राय में तो इस संतोष के खोखलेपन ही का दिग्दर्शन ऊपर के आँकड़े बड़ी सुन्दरता के साथ हमें करा देते हैं। सच बात तो यह है कि हमने अभी तक इस ओर ध्यान ही नहीं दिया, और न अपने कर्त्तव्य को पूरा करने की कोई विशेष रूप से चेष्टा ही की। यह ठीक है कि दलित जातियों के शुभचिंतकों को फुसलाने के लिए ऊपर के आँकड़े समय-समय पर इस्तेमाल किये जाते हैं। लेकिन यह तो राजनीतिक कला-चातुरी की एक बानगी है। वास्तविक तथ्य तो यही निकलता है कि न तो दलितों ने और न उच्च हिंदुओं ने शिक्षा-सम्बन्धी कार्य की महत्ता समझने की चेष्टा की। हमारे मुसलमान भाइयों को देखिए। ईसाइयों को छोड़कर इस सूबे में उनमें शिक्षा का सबसे अधिक प्रसार है। १९३८ में प्रत्येक हज़ार मुसलमानों में से सत्तर मुसलमान किसी-न-किसी संस्था में शिक्षा पाते थे। उनकी तुलना में प्रत्येक हज़ार दलित व्यक्तियों में केवल तेरह

सन् १६३८ में एक लाख ६७ हज़ार दलित विद्यार्थी शिक्षा पाते थे, वहाँ यदि वे मुसलमानों के बराबर होते, तो स्कूलों और कालेजों में उनकी संख्या ६ लाख ३५ हज़ार होती। इसी कमी को ढूँढ़ निकालने के लिए कोई बहुत बड़ी खोज की ज़रूरत नहीं। जैसा हम ऊपर कह चुके हैं, हमारे सूबे में सांपत्तिक दृष्टि से दलित जातियों की सबसे गिरी हुई दशा है। जिसे पेट-भर खाने को नहीं मिलता, उसके लिए यह कैसे संभव है कि वह अपने बच्चे को शिक्षा दिलाये। जितनी देर वह बच्चा स्कूल में रहेगा, उतनी ही देर तक अपने पेट के लिए रोटी कमाने से वंचित रहेगा। रोटी कमाकर पेट भरे या स्कूल जाकर भूखों मरे, इन्हीं दो प्रश्नों का उसे प्रतिदिन उत्तर देना पड़ता है। और, यदि वह यह तय करता है कि शिक्षित होने की कामना से भूखों मर जाने के बजाय अशिक्षित रूप में जीवित रहना श्रेयस्कर है, तो उसके इस निर्णय को कौन आदमी ग़लत कहेगा? अतएव यदि हम चाहते हैं कि शिक्षालयों में दलितों की संख्या बढ़े, तो यह परमावश्यक है कि हम न केवल उन विद्यार्थियों के लिए मुफ़्त शिक्षा पाने का प्रबन्ध करें, बल्कि यह भी आवश्यक है कि हम उनके खाने का भी प्रबन्ध करें। योरप और अमेरिका के स्कूलों में ग़रीबों के बच्चों को भोजन देने का भी प्रबन्ध है। कोई कारण नहीं कि इस तरह का प्रबन्ध हम अपने सूबे में भी दीनों के बच्चों के लिए क्यों न करें। इसीलिए ज़रूरत है कि हम ऐसे विद्यार्थियों को प्रारम्भिक कक्षा से लेकर कालेजों की कक्षा तक अधिक संख्या में स्कालरशिप दें। दलित जातियों के विद्यार्थियों को स्कालरशिप देने की प्रथा हमारे सूबे में आज दिन भी जारी है। कांग्रेस सरकार के ज़माने में इन स्कालरशिपों की तादाद में काफी वृद्धि की गई। लेकिन वह वृद्धि भी, जैसा कांग्रेसी मन्त्रिमण्डल ने स्वीकार किया, अपर्याप्त थी। उसमें और भी वृद्धि हो जाती, यदि कांग्रेसी मन्त्रिमण्डल ने इस्तीफ़ा न दे दिया होता। लेकिन इन प्रश्नों के समाधान की ज़िम्मेदारी हर हुकूमत पर है, चाहे वह कांग्रेसी हो या ग़ैर-कांग्रेसी। आधुनिक काल में कोई भी सरकार शिक्षा संबंधी मामले में अपने दायित्व से विमुख नहीं हो सकती। वह विमुख होना भी चाहे, तो लोकमत उसे ऐसा करने न देगा।

*

दलितों में शिक्षा-प्रचार करने की आवश्यकता एक दूसरी दृष्टि से और भी महत्वपूर्ण हो जाती है। इन जातियों की सामाजिक और सांपत्तिक दशा में तो उस दशा में सुधार संभव नहीं, जब तक इन जातियों के आदमियों को अधिक-से-अधिक संख्या में सरकारी नौकरियों में स्थान नहीं मिलता। इस देश में सरकारी मुलाज़िमत का विशेष मान है, उसी के द्वारा छुआछूत की मज़बूत रस्सियाँ आसानी से तोड़ी जा सकती हैं। लेकिन इसमें हिंदू-दलितों को उतनी संख्या में भी सरकारी ओहदों में हम नहीं पाते, जितनी संख्या में मुसलमान दलित जाति के लोगों को इन पदों पर देखते हैं। सरकारी मुलाज़िमत में मुसलमानों की संख्या साढ़े इकतीस हज़ार है, जिनमें से एक हज़ार के लगभग मुसलमान दलित जातियों के हैं। इसका यह अर्थ है कि सरकारी मुलाज़िमत में प्रत्येक ३१ मुसलमान पीछे कम-से-कम एक दलित मुसलमान आपको मिलेगा। क्या हम ईमानदारी के साथ यह कह सकते हैं कि सरकारी मुलाज़िमत में हिन्दू दलितों की संख्या उसी अनुपात में हमें मिलती है, जिस अनुपात में मुसलमान दलितों की? इसका सारा दोष सन् १९३७ से पहले की हुकूमतों पर है। उन्होंने मौक़े-बेमौक़े हिन्दू दलितों के साथ मौखिक सहानुभूति तो प्रदर्शित की, लेकिन वास्तव में उन्हें उठाने की कोई ख़ास चेष्टा नहीं की। हाँ, जब कांग्रेसी हुकूमत के हाथ में सूबे के शासन की बागडोर आई, तब उसने इस मसले को उठाया, और इस बात की कोशिश की जाने लगी कि दलितों को सरकारी नौकरियों में यथासम्भव स्थान दिये जायँ। लेकिन यह 'यथासंभव' बहुत ही ख़तरनाक शब्द है, क्योंकि जब तक दलितों में उच्च शिक्षा-प्राप्त व्यक्तियों का अभाव रहेगा, तब तक यह कैसे सम्भव है

जैसा हमने लेख के आदि में कहा था, दलितों की समस्या हमारे कलङ्क मोचन की समस्या है। वह दलितों के उद्धार का मसला नहीं, वह तो हमारे उद्धार का सवाल है। जिस पाप-पङ्क में हम अपनी मूर्खता के कारण सदियों से फँसे चले आते हैं, उससे यदि हमें निकलना है, और यदि हमें इस बात की कामना है कि हमारे सूबे के प्रत्येक व्यक्ति को पूर्ण विकास के सब सुयोग प्राप्त हों, जिसमें राष्ट्र बलशाली हो, निर्भीक हो, और स्वतन्त्र हो, तो यह ज़रूरत है कि हमारे समाज में जो अपाहिज हों जो पंगु हों, जो दलित हों, जो दीन हों, उन्हें हम इस योग्य बना दें कि वे अपने पैरों के बल खड़े हो सकें, और न सिर्फ़ खड़े हो सकें, बल्कि आगे बढ़ने और ऊँचे उठने की पूरी योग्यता रखते हों। राष्ट्र-निर्माण का यही सच्चा सिद्धान्त है। इस लेख में भी प्रातःस्मरणीय बालकृष्ण गोखले के उन शब्दों को हम दोहरा देना चाहते हैं, जिनका उल्लेख पिछले लेख में कर चुके हैं। उन्होंने यह कहा था कि राष्ट्र-मन्दिर का शिखर बनाने के पहले हमारे लिए यह आवश्यक है कि हम पहले उस भूमि को समतल कर लें, जिस पर उस मन्दिर की नींव डालने जा रहे हैं। हमारी सामाजिक भूमि चौरस नहीं। बाज जगह टीले हैं, तो बाज़ जगह खड्ड भी। खड्डों का भरना और टीलों का समतल करना हमारा पहला काम है। उसके बाद ही राष्ट्र-मन्दिर की नींव डाली जा सकती है। ज़मीन को समतल किये और नींव उठाये बिना शिखर बनाने की चेष्टा करना पल्ले दरजे की मूर्खता होगी। हमारे राष्ट्रीय जीवन का भव्य मन्दिर तभी उठ सकता है, जब हम दलितों को खड्डों से उठाकर अपने बराबर बना लेंगे। तभी भारत का प्रजा-सत्तात्मक स्वराज्य देश की जनता का वास्तविक स्वराज्य होगा। अल्प-संख्यकों का राज्य सुराज हो सकता है, लेकिन उसे स्वराज्य कहना अपने को धोखे में डालना है। ब्राह्मणों, क्षत्रियों, वैश्यों और कायस्थों की संख्या इस सूबे के हिन्दू-समाज में केवल २३ प्रतिशत, और शूद्रों की ७७ प्रतिशत है। दलितों की संख्या बहुत अधिक है। इन ७७ फ़ी सदी में शिक्षा का अभाव है, आत्मबल की कमी है, आत्मप्रतिष्ठा का अज्ञान है। इन सबको कर्मठ, साहसी और स्वाभिमानी बनाने के लिए यह ज़रूरी है कि हम इन्हें शिक्षित करें, और शिक्षित करें थोड़े से-थोड़े समय में। हिंदुस्तान को दूसरे समुन्नत राष्ट्रों का मुक़ाबिला करना है। इस

मुठभेड़ में यदि हमें जीवित रहना है, तो सोते-जागते हमें यह बात याद रखनी चाहिए कि ये ७७ फ़ी सदी हमारे पैरों की ज़ंजीरें हैं, और जब तक इन ज़ंजीरों से हम अपने समाज को मुक्त न करेंगे, तब तक न तो हमारा हित ही सध सकता है, और न देश का कल्याण ही होगा। इसलिए सामाजिक संकीर्णता छोड़कर साहस के साथ दलितों की समस्या हल करने के लिए हमें मैदान में उतर आना चाहिए। अस्पृश्यता का सवाल तभी सार्थक रूप में हल होगा, जब दलितों में भी उसी तरह शिक्षा फैल जायगी, जिस तरह हिन्दू-जाति की अन्य श्रेणियों में उसका आज दिन प्रचार है। सदियों तक हम उन्हें दलित इसीलिए रख सके कि हमने आत्मोन्नति के तमाम साधन उनके हाथ से छीन लिये थे, और जब तक वे साधन उन्हें न प्राप्त हों, तब तक मौखिक उदारता के राग हम भले ही अलापते रहें; लेकिन हमारी नेकनीयती और ईमानदारी में किसी भी निष्पक्ष आदमी को विश्वास नहीं हो सकता।

जून, १९४०]

शिक्षा में क्या मुसलमान पिछड़े हैं ?

युक्त-प्रान्त में अल्पता की समस्या का एक पहलू अल्पसंख्यक जातियों की शिक्षा का प्रश्न है। सन् १९३१ की मनुष्य-गणना के अनुसार इस सूबे में—

हिन्दू ४ करोड़, १० लाख; मुसलमान ७१ लाख, ८४ हज़ार; और ईसाई २ लाख, ५ हज़ार हैं। अर्थात् इस सूबे की कुल आबादी के प्रत्येक १० हज़ार आदमियों में से हिन्दुओं की संख्या ८,४७५; मुसलमानों की १,४९०; और ईसाइयों की ३५ होगी। इस सूबे में जहाँ तक ईसाइयों की शिक्षा-सम्बन्धी प्रगति का सम्बन्ध है, वहाँ तक अन्य संप्रदायों के मुक़ाबिले में उनके पीछे होने का कोई सवाल ही नहीं उठता। ईसाइयों में शिक्षा का बहुत काफ़ी प्रचार है। उनमें साक्षरों की संख्या भी दूसरी जातियों की तुलना में काफ़ी अधिक है। ईसाइयों में शिक्षितों की संख्या-सम्बन्धी आँकड़ों को यहाँ दोहराने की ज़रूरत नहीं है, क्योंकि 'हमारे ईसाई भाई' शीर्षकवाले मेरे लेख में उनका सविस्तर ब्योरा पाठकों को मिल जायगा। इस लेख में तो हम केवल एक ही प्रश्न पर विचार करना चाहते हैं, अर्थात् क्या हिन्दुओं की तुलना में हमारे मुसलमान भाई कम शिक्षित हैं ?

× × ×

पिछले ६०-७० साल से मुसलमान नेता, लेखक और अख़बारनवीस यही राग अलापते चले आये हैं कि इस सूबे के मुसलमानों की शिक्षा-सम्बन्धी दशा बहुत ही शोचनीय है और जब तक सरकार की ओर से उन्हें विशेष सुविधाएँ न प्राप्त होंगी तब तक हिन्दुओं के मुक़ाबिले में दिन पर दिन वह बिगड़ती चली जायगी। क्यों बिगड़ती चली जायगी, इसका भी जवाब इन्हीं मुसलमान सज्जनों की ज़बानी सुन लीजिए। आप लोगों का कहना है कि हिन्दू मालदार हैं, लेकिन मुसलमान तुलनात्मक दृष्टि से ग़रीब हैं। एक आसानी से अपने बच्चे को पढ़ा सकता है, दूसरा अपनी ग़रीबी के कारण बच्चों की तालीम के मामले में उदासीन रहने के लिए मज़बूर है। अँगरेज़ी हुकूमत ने मुसलमानों के इन दोनों ही कथनों को अनेक बार स्वीकार किया और उनमें शिक्षा के प्रचार के नाम पर

उन्हें वक़्तन-फ़वक़्तन तरह-तरह की रियायतें और सहूलियतें देकर अपनी हुकूमत के प्रति उनकी राज्य भक्ति को चिरस्थायी बनाने का एक सरल साधन ढूँढ़ निकाला। मुसलमानों की बिगड़ी हुई तालीमी हालत को सुधारने की चिन्ता प्रकट कर अँगरेज़ी हाकिमों ने अपने को उनका सच्चा हमदर्द और शुभचिन्तक सिद्ध करने की चेष्टा की। इस सहानुभूति-प्रदर्शन के पीछे चाहे कोई राजनैतिक भावना काम करती रही हो या न रही हो, लेकिन इसमें कुछ भी संदेह नहीं कि इस हरक़त का मुसलमानों के ऊपर ख़ासा असर पड़ा। इसका एक और भी परिणाम हुआ। वह यह कि हिन्दू और मुसलमान दोनों ही शिक्षा के प्रसार के मसले को साम्प्रदायिक दृष्टिकोण से देखने लगे। दोनों ही एक-दूसरे से आगे बढ़ जाने और अपने कल्पित विपक्षी को नीचा दिखाने की कोशिशें करने लगे। सूबे की जनता में शिक्षा फैल जाय, इसकी चिन्ता हमें उतनी न रह गई जितनी इस बात की चिन्ता हमें सताने लगी कि हमारे संप्रदाय-विशेष को शिक्षा की अधिक-से-अधिक सुविधाएँ प्राप्त हों, चाहे दूसरे संप्रदायवाले भले ही पिछड़े रहें। इसके अलावा मुसलमान नेता इस्लामी शिक्षा के प्रसार पर ज़ोर देकर इस बात की निरन्तर चेष्टा करते चले आये हैं और इसमें अँगरेज़ी हुकूमत ने समय समय पर उनको प्रोत्साहन दिया कि मुसलमान विद्यार्थियों के लिए इस्लामी मदरसे स्थापित किये जायँ। शिक्षा के प्रबन्ध में भी भेद-भाव की आवश्यकता पर उन्होंने निरन्तर ज़ोर दिया। मुसलमानों की जितनी शिक्षा-सम्बन्धी माँगें हैं उन सबकी तह में आपको साम्प्रदायिक अलगाव की प्रेरणा विशेष रूप से सबल दिखाई पड़ेगी। राष्ट्रीय शिक्षा उनका ध्येय नहीं, उन्हें राष्ट्रीय हित की चिन्तना भी नहीं। सर सैयद अहमद की कोशिश थी कि मुसलमान हर बात में अपने को हिन्दुओं से जुदा समझें। जब तक वे ज़िन्दा रहे तब तक उन्होंने इसी ध्येय की सिद्धि के लिए प्रयत्न किया। उनके मरने के बाद उनके साथियों और उत्तराधिकारियों ने इसी नीति पर निरन्तर काम जारी रक्खा। हाकिमों ने उन्हें शह दी, सहानुभूति प्रकट की, और यथासम्भव उनकी इस भेद-भाव की नीति को, शिक्षा के पवित्र क्षेत्र पर भी आक्रमण करने में तरह-तरह की सहायता पहुँचाई। अलीगढ़ कालेज या विश्वविद्यालय फूट की इसी भावना का सर सैयद अहमद ख़ाँ के ज़माने से सबसे बड़ा अड्डा बना चला आया है। मुसलमानों में जितनी

राष्ट्र-विरोधिनी भावनायें आज आपको दिखाई देती हैं, उन सबकी जड़ में अलीगढ़ का राष्ट्र-घातक विषैला प्रभाव है। एक मुसलमान सज्जन ने युक्त-प्रान्त की एसेम्बली में मुसलमानों की इस शिक्षा-सम्बन्धी साम्प्रदायिक नीति की उन्हीं शब्दों में व्याख्या की थी जिन शब्दों में उसकी व्याख्या आप लेख के इस अंग में पायेंगे। अप्रैल ४, सन् १९३८ को यू० पी० एसेम्बली में बोलते हुए उक्त सज्जन ने कहा था कि उनकी समझ में नहीं आता कि युक्त-प्रान्त में 'मुस्लिम शिक्षा' नामक चीज़ का क्या अर्थ हो सकता है। आगे चलकर उन्होंने पूछा—कैसे कोई होश-हवास के दुरुस्त रहते हुए इस तरह की शिक्षा की माँग कांग्रेस-गवर्नमेंट के सामने पेश कर सकता है? यह गवर्नमेंट तो राष्ट्रीय हुकूमत होने का दावा करती है। इन्हीं उक्त सज्जन ने यह भी कहा था कि जिस मुस्लिम शिक्षा की माँग यहाँ पेश की गई है वह राष्ट्र-विरोधी न हो, लेकिन उसको राष्ट्रीय शिक्षा-विधान से भिन्न स्वरूप देने की चेष्टा अवश्य की गई है। "इस बात की चेष्टा की जाती है कि मुसलमान लड़के और लड़कियों के लिए जुदा तालीम दी जाय। मुसलमान अध्यापक जुदा हों, मुसलमान लड़कों के लिए पाठ्य-क्रम जुदा हों, मुसलमान लड़कियों के लिए पढ़ाने की योजना भिन्न हो, और इन संस्थाओं के निरीक्षक भी जुदा हों।" मुसलमानों की माँगों की इस बेरहमी के साथ पोल खोलने के बाद उक्त मुस्लिम सज्जन ने कहा कि शायद मुसलमान दोस्त निकट भविष्य में यह भी प्रस्ताव लायें कि एक जुदा मुस्लिम वजीर हो, और मुसलमानों के शिक्षण और शासन के लिए एक जुदा मुस्लिम हुकूमत भी हो।

आइए, देखें कि हमारे सूबे के मुसलमानों की शिक्षा के मामले की वास्तविक दशा क्या है और उस दशा की तुलना करें हिन्दुओं की दशा के साथ। आगे के कोष्ठक में १९०१, १९११, १९२१, और १९३१ में प्रत्येक हज़ार मुस्लिम और हिन्दू मर्दों में साक्षरों की संख्या आपको मिलेगी—

प्रत्येक १,००० मर्दों में साक्षर

वर्ष	हिन्दुओं में	मुसलमानों में
१९०१	५६	५२
१९११	५८	५९
१९२१	६२	६५
१९३१	७०	७४

हिन्दू मर्दों में जहाँ ४० साल की इस अवधि में साक्षरों की संख्या ५६ से ७० हुई, अर्थात् जहाँ इनमें २२ प्रतिशत की वृद्धि हुई, वहाँ मुसलमानों में साक्षरों की संख्या ५२ के स्थान में ७४ हो गई, अर्थात् ४२ प्रतिशत की वृद्धि हुई। इस पर भी मुसलमानों का यह कहना है कि हिन्दुओं की तुलना में वे पिछड़े हुए हैं ? जब इन आँकड़ों की ओर मुसलमान नेताओं का ध्यान आकर्षित किया जाता है तब वे बड़े तपाक से कह बैठते हैं कि हाँ जनाब, आप फ़रमाते तो सही हैं, लेकिन आप भूल जाते हैं कि हिन्दुओं में दलित जातियाँ भी शामिल हैं और इसीलिए हिन्दू-साक्षरों की तादाद कम दिखाई देती है। अगर हिन्दुओं की उच्च जातियों के साक्षर मर्दों की तुलना मुसलमान साक्षरों से की जाय, तो आपको पता लग जायगा कि मुसलमान हिन्दुओं से कितने पिछड़े हैं। इसके जवाब में हमें सिर्फ़ इतना ही कहना है कि शिक्षा के मामले में यदि हिन्दुओं में पिछड़ी हुई जातियाँ हैं, तो मुसलमानों में भी इसी तरह की दलित जातियों की संख्या कम नहीं है। हिन्दू-सम्प्रदाय के माननेवालों में दलितों की संख्या यदि २१ प्रतिशत है तो मुसलमानों में उनकी संख्या ५६ प्रतिशत है। हिन्दुओं की यदि उच्च जातियों के साथ मुसलमानों की तुलना करनी है, तो वह तुलना होनी चाहिए मुसलमानों की सिर्फ़ उच्च जातियों के साथ। शिक्षा की दृष्टि से जैसे हिन्दुओं में, वैसे ही मुसलमानों में भी उच्च और नीच जातियाँ एक-सी विद्यमान हैं। शिक्षा के प्रसार में घटती-बढ़ती का कारण साम्प्रदायिक नहीं है, किन्तु साम्पत्तिक है। शहरों और क़स्बों के रहनेवाले हिन्दू और मुसलमान मर्दों में, देहातों की तुलना में, अधिक साक्षर मिलेंगे। इसी तरह देहात में बसनेवाली हिन्दू और मुसलमान जातियों में खेतिहर जातियों की तुलना में उन जातियों में अधिक साक्षर हैं जो कारीगर हैं। इस लेख के अन्त में पाठकों को एक परिशिष्ट मिलेगा, जिसमें हमने हिन्दू और मुसलमानों की विभिन्न जातियों में प्रतिशित साक्षरों की संख्या दे दी है। उससे हमारे उपर्युक्त कथन का समर्थन हो जायगा।

× × ×

हिन्दू पिछड़े हैं या मुसलमान—इस बात को जाँचने की साक्षरों की कसौटी के अतिरिक्त एक दूसरी भी कसौटी हमारे पास मौजूद है। वह है विश्व-

विद्यालयों, कालेजों और सब तरह के स्कूलों में शिक्षा पानेवाले विद्यार्थियों की तुलना।

सूबे में मुसलमानों की कुल आबादी कुछ कम १५ सैकड़ा है। प्रारम्भिक शिक्षा पानेवाले सब विद्यार्थियों में मुस्लिम विद्यार्थियों की संख्या सन् १९१९-२० में १८, १९२३-२४ में १६, १९२७ में १७, प्रतिशत थी १९३७-३८ में। सूबे के तमाम प्राइमरी स्कूलों में पढ़नेवाले विद्यार्थियों की संख्या १२ लाख २१ हज़ार थी, जिनमें से २ लाख ४० हज़ार मुस्लिम विद्यार्थी थे, अर्थात् कुछ कम २० सैकड़ा थे, इसी तरह दर्जा ५ से लेकर दर्जा १० तक की उच्च कक्षाओं में मुसलमान विद्यार्थियों की संख्या १७ प्रतिशत थी। ३१ मार्च, १९३८ में विश्वविद्यालयों और कालेजों में मुसलमान विद्यार्थियों की संख्या १९ प्रतिशत थी; क़ानून पढ़नेवाले विद्यार्थियों की संख्या कुछ कम २३ प्रतिशत; मेडिकल कालेज में २१ प्रतिशत; ट्रेनिङ्ग कालेजों में कुछ कम ३० प्रतिशत थी। १९३८ में जितने विद्यार्थियों ने एम० ए० पास किया, उनमें कुछ कम २२ प्रतिशत मुसलमान थे। इनकी संख्या एम० एस-सी० में उत्तीर्ण होनेवालों में...,बी० ए० में कुछ कम २१, बी० एस-सी० में कुछ कम १४, बी० टी० या एल० टी० में कुछ कम ३७ प्रतिशत थी। इंटरमीडियट दर्जों में मुस्लिम विद्यार्थियों की संख्या २२ से कुछ अधिक प्रतिशत थी। इंटरमीडियट परीक्षा में उत्तीर्ण विद्यार्थियों में मुसलमान विद्यार्थियों की संख्या १८ और हाईस्कूल परीक्षा में उत्तीर्ण विद्यार्थियों में लगभग १९ प्रतिशत थी। हाईस्कूल की कक्षाओं में शिक्षा पानेवालों में २१ से कुछ अधिक प्रतिशत विद्यार्थी मुसलमान हैं।

इन आँकड़ों के होते हुए भी मुसलमानों का यह कहना है कि हिन्दुओं से वे तालीम में पिछड़े हैं। अपने कथन के समर्थन में वे एक दलील पेश किया करते हैं, जिसका यहाँ पर उल्लेख कर देना अनुचित न होगा। उनका कहना है कि मुसलमान और हिन्दू विद्यार्थियों की तुलना करने के पहले हिन्दुओं की संख्या में से दलितों की संख्या निकाल देना चाहिए।

आँकड़े पूर्णाङ्कों में (केवल मर्द और बच्चे)

	मर्द (हज़ार में)	विद्यार्थियों की संख्या (हज़ार में)	प्रतिशत
कुल आबादी	२५,४००	१,४२७	५·६
हिन्दू—	२१,५००	१,१४४	५·०
(१) दलित	५,०००	१५६	३·०
(२) अदलित	१६,५००	६८५	६·०
मुस्लिम	३,८००	२६४	७·०
ईसाई	८८	५·८	६·३

हिन्दू विद्यार्थियों में से दलितों की संख्या को निकाल देने पर भी मुसलमान विद्यार्थियों की संख्या हिंदुओं के अदलित विद्यार्थियों की संख्या से अधिक बैठती है। जहाँ अदलित हिन्दू विद्यार्थी ५८ हैं, वहाँ मुसलमान विद्यार्थी १७ मिलते हैं। यदि मुसलमानों में से भी हम दलितों की संख्या को निकाल दें, जैसा कि हिन्दुओं के विषय में हमने किया है—और कोई कारण नहीं मालूम होता कि ऐसा क्यों न किया जाय—तो हिन्दू सम्प्रदाय की अदलित जातियों के विद्यार्थियों की संख्या मुस्लिम अदलित जातियों के विद्यार्थियों की संख्या की तुलना में और भी अधिक कम बैठेगी।

कहा जाता है कि मुसलमानों में शिक्षा का प्रसार इसलिए कम है कि शिक्षा-विभाग में मुसलमान मुलाज़िमों की तादाद थोड़ी है। कांग्रेसी मुसलमान भी इस शिकायत को सही मानते हैं और खुल्लम-खुल्ला इस बात का अन्दोलन किया करते हैं कि शिक्षा-विभाग में मुसलमानों को अधिक नौकरियाँ दी जायँ। उदाहरण के लिए युक्त-प्रान्त की एसेम्बली के सदस्य डाक्टर हुसेन ज़हीर को ले लीजिए। एसेम्बली में मुस्लिम शिक्षा-विषयक एक प्रस्ताव पर बहस हुई। ४ अप्रैल १६३८ को इसी प्रस्ताव पर बोलते हुए आपने यह फ़रमाने की कृपा की थी। आपने कहा कि वे इस बात को तसलीम करते हैं कि शिक्षा-विभाग में मुस्लिम अध्यापकों की कमी है। इस सम्बन्ध में आपने कुछ आँकड़े भी दिये। आपने कहा कि इंटरमीडियट कालेजों और हाईस्कूलों में मुसलमान अध्यापकों

की संख्या हज़ार में सिर्फ़ २३५ है। आपकी राय में इनकी संख्या २३५ के बजाय लगभग ३८० होनी चाहिए, क्योंकि मुसलमानों की नागरिक आबादी ३८ फ़ी सदी से अधिक है। आपने यह भी कहा कि सूबे के पूर्वी ज़िलों के देहाती मदरसों में कहीं-कहीं ६ प्रतिशत से भी कम मुसलमान अध्यापक हैं। डाक्टर हुसेन ज़हीर पढ़े-लिखे आदमी हैं और कांग्रेसी हैं। इसीलिए उनके मुख से इस तरह की बातों को सुनकर हमें अचरज होता है। हमारा अचरज और भी बढ़ जाता है जब हम यह देखते हैं कि उन्होंने उपर्युक्त आँकड़ों को देते हुए २१ मार्च, १९३९ के यू० पी० गज़ट का हवाला दिया है। इस गज़ट के आठवें भाग में ८२ और ८३ पृष्ठ पर शिक्षा-विभाग के तत्कालीन डाइरेक्टर ने शिक्षा-विभाग में नियुक्त मुस्लिम मुलाज़िमों की संख्या का विस्तार के साथ वर्णन किया है। डाइरेक्टर की इस रिपोर्ट को डाक्टर ज़हीर ने बोलने के पहले देखा भी था। उन्हीं के भाषण में इस बात का प्रमाण मौजूद है कि उन्होंने इस रिपोर्ट को न सिर्फ़ देखा ही था, बल्कि इसे ध्यान से पढ़ा भी था। इस सम्बन्ध में डाइरेक्टर ने जो कुछ कहा है, उसका सार हम नीचे के कोष्ठक में दे रहे हैं—

शिक्षा-विभाग में मुसलमान मुलाज़िमों की प्रतिशत संख्या—

इंटरमीडियट संस्था		सौ में कितने मुसलमान हैं
(१) इंटरमीडियट कालेज और हाईस्कूल		२३·५
(२) प्राइमरी स्कूल;		
(अ) डिस्ट्रिक्ट बोर्ड	...	१३·०२
(आ) म्युनिस्पिल बोर्ड	...	२६·०६
(३) इंस्पेक्टर्स और असिस्टेंट इंस्पेक्टर	...	३५·३
(४) डिप्टी इंस्पेक्टर	...	३४·५
(५) सब-डिप्टी इंस्पेक्टर	...	३३

इन विभिन्न श्रेणियों में कुल मुलाज़िमों और मुस्लिम मुलाज़िमों की संख्याएँ क्रमशः नीचे दी जाती हैं :—(१) इंटरमीडियट कालेजों और हाईस्कूलों के कुल अध्यापकों की संख्या १,३७२ है, जिनमें से ३२२ मुसलमान हैं। देहाती और नागरिक प्राइमरी स्कूलों के ३१,७७८ अध्यापकों में ४,५३४ मुसलमान हैं। इंस्पेक्टिंग (निरीक्षण) विभाग में मुलाज़िमों की कुल तादाद २८१ है, जिनमें ९३

मुस्लिम हैं। डाक्टर हुसेन ज़हीर साहब की माँग है कि इंटरमीडियट कालेजों और हाईस्कूलों में मुसलमान अध्यापकों की संख्या ३८ प्रतिशत होनी चाहिए, क्योंकि शहरों और क़स्बों में मुसलमानों की आबादी भी ३८ सैकड़ा है। क्या डाक्टर साहब आबादी के इस उसूल को और जगह भी लगाये जाने के सिद्धान्त को स्वीकार करेंगे? उस दशा में उन्हें यह कहना पड़ेगा कि इंस्पेक्टरों, असिस्टेंट इंस्पेक्टरों, डिप्टी इंस्पेक्टरों और सब-डिप्टी इंस्पेक्टरों में मुसलमानों की संख्या बहुत ज़्यादा है और उसे घटाकर कम कर देना चाहिए। इसीतरह जिन डिस्ट्रिक्ट बोर्डों और म्युनिसिपैल्टियों में आबादी के हिसाब से जिन मुसलमान अध्यापकों की संख्या अधिक है, वहाँ उन्हें भी घटा देना चाहिए। शहरों और देहातों का भेद भी डाक्टर ज़हीर ने ख़ूब किया! इंटरमीडियट और हाईस्कूलों में मुसलमान अध्यापकों की संख्या १९३६ में भी १५ के बजाय २३½ थी। डाक्टर साहब को चाहिए था कि वे यह प्रस्ताव करते कि २३½ के बजाय इसे १५ कर देना चाहिए। ऐसा करना तो दूर रहा, उलटे आप यह फ़रमाते हैं कि २३½ की जगह ३८ कर देनी चाहिए! डाक्टर ज़हीर अपने को राष्ट्रवादी कहते हैं, इसीलिए हम यह कहेंगे कि उन्होंने मुस्लिम अध्यापकों की संख्या के सम्बन्ध में जो कुछ कहा, बहस के जोश में वह कह गये थे। उनकी निश्चित धारणा इतनी साम्प्रदायिक और संकीर्ण है, यह हम कदापि मानने के लिए तैयार नहीं हैं।

मुसलमानों में शिक्षा के फैलाने के लिए सरकार हर साल कई लाख रुपये की रक़म ख़र्च करती है। सन् ३७-३८ में इस मद में ४ लाख ६६ हज़ार रुपये ख़र्च हुए थे। मुसलमानों के साथ यह ख़ास रियायत है, और वह भी यह कहकर कि वे तालीम में पिछड़े हुए हैं, यह बात बिलकुल उलटी है। दलित जातियों की शिक्षा पर उसी साल में २ लाख ४१ हज़ार रुपये ख़र्च हुए, यद्यपि जन-संख्या में हिन्दू दलित मुसलमानों से कहीं अधिक हैं और शिक्षा में वे इनसे बहुत पीछे हैं। २ लाख ४१ हज़ार की रक़म भी अभी थोड़े ही दिनों से हिन्दू-दलितों में शिक्षा-प्रसार के लिए ख़र्च होने लगी है। लेकिन हिन्दू-दलितों में और मुसलमानों में एक और भी अन्तर है। इस सूबे में मुसलमानों की माली हालत हिन्दुओं की माली हालत से कहीं अच्छी है। दलित हिन्दुओं की साम्पत्तिक

दशा तो मुसलमानों की माली हालत के मुक़ाबिले में और भी अधिक ख़राब है। तालीम में हिंदू ईसाइयों और हिन्दू-दलितों से मुसलमान बहुत आगे बढ़े हुए हैं। फिर समझ में नहीं आता कि उनके साथ इस तरह की रियायतें क्यों की जाती रहीं या की जाती हैं। एक और भी प्रश्न यहाँ पर उठता है। जैसे हिन्दुओं में वैसे ही मुसलमानों में, शिक्षा के मामले में पिछड़ी हुई जातियाँ मौजूद हैं। हम यह स्वीकार करते हैं कि शासन का यह अटल धर्म है कि वह पिछड़े हुए लोगों को आगे बढ़ाने की पूर्णरूप से चेष्टा करे। हमें दुःख है कि हिन्दुओं में पिछड़ी हुई जातियों के सुधार की ओर भी थोड़े ही दिनों से जनता और सरकार का ध्यान गया है। लेकिन हमें इसका और भी अधिक शोक है कि मुसलमानों की उच्च जातियों को खुश रखने के लिए अँगरेज़ हाकिम उन्हें शिक्षा के लिए विशेष सहायता तो देते रहे; लेकिन उन्होंने इस बात की कुछ भी परवाह न की कि विशेष सहायता की रक़म मुसलमानों की पिछड़ी हुई जातियों की शिक्षा पर ख़र्च की जाती है या नहीं। मुसलमान नेता भी इस मामले में उदासीन रहे। मुसलमानों में यदि शिक्षा का अधिकाधिक प्रसार होना है, तो यह तभी सम्भव होगा कि जब मुस्लिम दलित जातियों के बच्चों के पढ़ाने की ओर विशेष रूप से ध्यान दिया जायगा। मुसलमानों के नेताओं से इस सम्बन्ध में कोई आशा नहीं की जा सकती। उन्हें तो अपनी कुलीनता का नाज़ है, "रज़ीलों" से उन्हें कोई वास्ता नहीं है। जो इन "रज़ीलों" को मिलना चाहिए था उसे ये "कुलीन" बीच ही में हड़प करते रहे और उनकी यह बेढंगी चाल उस समय तक जारी रहेगी जब तक उसकी रोक-थाम का ख़ास तौर से इन्तज़ाम न किया जायगा।

हमारे मुसलमान भाई मतलब की बात को ख़ूब समझते हैं और अपना काम निकालना भी उन्हें ख़ूब आता है। अपना स्वार्थ सिद्ध करने के लिए वे तरह-तरह की माँगे पेश किया करते हैं और उन माँगों के समर्थन में हर तरह की दलीलों से काम लेने में उन्हें कभी किसी तरह का संकोच नहीं होता। इसी नीति का यह एक उदाहरण है कि वर्षों से उन्होंने सरकार और जनता को यह पाठ पढ़ाना शुरू किया कि मुसलमान तालीम में पिछड़े हुए हैं और इसलिए उनके साथ ख़ास रियायत होनी चाहिए। इसी पिछड़े होने की दुहाई देकर शिक्षा

-विभाग में अधिकाधिक मुसलमानों की नियुक्ति की भी माँग बरसों से उन्होंने कर रक्खी है। शिक्षा में वे पिछड़े हों या न पिछड़े हों, यह उनके लिए एक गौण बात है। उन्हें तो फ़िक्र सिर्फ़ इस बात की है कि शिक्षा-विभाग में किस तरह मुसलमानों की संख्या बढ़े और किस तरह से अधिकाधिक परिमाण में सरकार से इमदाद के नाम पर रक़में काटी जायँ। राजनीति की चालबाज़ियों में, कहते हैं, ग़लत बयानी एक बहुत ही तुच्छ दोष है।

जून, १९४०]

हिन्दू-मुस्लिम दंगा

सरमाएदारों की राजनीतिक चाल

आजकल सूबे में हिंदू-मुस्लिम दंगे की समस्या ने और सब बातों को पीछे फेंक दिया है। बहुत-सा मनमुटाव बेतरह बढ़ रहा है। निहत्थे, निस्सहाय, निरपराध हिन्दुओं को मुसलमान गुण्डे और इसी तरह निर्दोष और निरीह मुसलमानों को हिन्दू गुंडे, दिन-दहाड़े मार डालने की कोशिश करना और एक दूसरे के मकान और दूकानों में आग लगाना, अपना जन्मसिद्ध अधिकार समझते हैं। सूबे की क्या हालत है, इसको समझने के लिए या समझाने के लिए कुछ अधिक कहने की ज़रूरत नहीं है। सिर्फ़ तीन स्थानों का नाम दे देने से ही वास्तविक स्थिति का चित्र हमारी आँखों के सामने आ जाता है। ये हैं बनारस, इलाहाबाद और कानपुर।

विकट समस्या

इसी समस्या का एक दूसरा पहलू हमें लखनऊ में दिखलाई देता है। वहाँ शियों और सुन्नियों के आपसी झगड़े इस बात के सबूत हैं कि सूबे में अन्ध-विश्वास और हठधर्मी का बाज़ार कहाँ तक गरम हो गया है। यों तो पहले भी अनेक बार इस सूबे में साम्प्रदायिक दंगों के नाम पर बेकसों के ख़ून से कई बार पृथ्वी रँग चुकी है—जैसे सन् १९२४ में, २६ में, २७ में और ३१, ३२ में। लेकिन उन बातों को तो लोग भूल गये। वे पुरानी हो चुकी हैं। अब जो कुछ हो रहा है, उस सबकी पूर्ण ज़िम्मेदारी कांग्रेस और कांग्रेस-सरकार के सर पर मढ़ी जा रही है। इस सूबे के हिन्दुओं और मुसलमानों में यद्यपि आज अनेक बातों में मतभेद है, लेकिन दोनों ही कम से कम इस एक बात के कहने में एकदिल हैं कि दोनों ही मिलकर साम्प्रदायिक दंगों के लिए कांग्रेसी सरकार को कोसते हैं।

मैं कई बार कानपुर भी गया, बनारस भी गया और इलाहाबाद का तो रहने ही वाला हूँ। इन तीनों शहरों की जनता आज दिन कांग्रेस गवर्नमेंट से बेतरह नाख़ुश है। यह नाख़ुशी कहाँ तक ठीक है, इससे हमें यहाँ पर कोई सरोकार नहीं है। हमें तो सरोकार यहाँ सिर्फ़ इस बात से है कि यह धारणा जो मौजूद है और दिन प्रतिदिन मज़बूत होती जा रही है, इसका क्या कारण है? हमें यह भी दुख के साथ स्वीकार करना पड़ता है कि ऐसे दंगे शुरू होने पर जल्द ख़तम नहीं हो जाते; बल्कि जहाँ कोई फ़साद शुरू होता है, वहाँ वह बहुत दिनों तक चलता रहता है। घाव जल्द नहीं पुरता, वह नासूर हो जाता है। हिन्दू-मुसलमान को और मुसलमान हिन्दू को, शिया सुन्नियों को और सुन्नी शियों को साम्प्रदायिक तनातनी या दंगों के लिए ज़िम्मेदार करार देते हैं? अपने उत्तरदायित्व को न तो कोई स्वीकार करता है, और न कोई यही मानने के लिए तैयार है कि इन सब फ़सादों को रोकने की ज़िम्मेदारी, शिकायत करनेवाले पर भी है।

रोग बढ़ गया है

रोग बहुत बढ़ गया है। इसको समूल मिटा देने ही में सूबे और देश का कल्याण है। इसके लिए ज़रूरी है कि सूबे के हिन्दू और मुसलमान यह समझने लगें कि यह एक गौण बात है कि मरनेवाला हिन्दू है या मुसलमान; जो कोई भी मारा जाता है, उसमें हमारा ही रक्त बहता है। हिन्दुस्तान की ख़ाक से वह बना था और उसी ख़ाक में, जिससे इस सूबे में पैदा होनेवाले बने हैं, मरने पर वह मिल जायगा। कोई मरे क्यों; आख़िर है तो वह हमारा ही भाई! लेकिन आपसी मनोमालिन्य के कारण हिन्दू यह जानकर कि दंगे में अधिक मुसलमान मारे गये, या मुसलमान यह जानकर कि मुसलमान कम मारे गये और हिन्दू ज़्यादातर, दिल ही दिल में ख़ुशी से फूल उठते हैं। हिन्दू और मुसलमान दोनों ही भूल जाते हैं कि दोनों एक ही माँ के बेटे हैं और भाई का ख़ून करना हिन्दू के लिए उतनी ही लज्जा और दुःख की बात है जितनी मुसलमान के लिए। कहने के लिए तो ये दंगे मज़हबी हैं, लेकिन वास्तव में इनकी तह में धर्म नहीं है। यदि ऐसा होता तो मारे जाने और मारनेवालों में पंडित और मौलवियों की तादाद सबसे ज़्यादा होती। किसी भी दंगे में हमने यह नहीं सुना कि कोई पंडित

या मौलवी मारा गया और न यही सुनने में आया कि साम्प्रदायिक बलवे के लिए जिन लोगों को फाँसी पर लटकाना पड़ा, वे मौलवी या पंडित थे। अगर मज़हबी लड़ाई होती तो मौलवी और पंडित ऐसे दंगों में सबसे आगे दिखाई देते ?

नवाब साहब छतारी ने एक बार युक्त-प्रान्त की असेम्बली में कहा था कि साम्प्रदायिक मनमोटाव की तह में मज़हब नहीं है। यह तो साम्प्रदायिक संघर्ष का परिणाम है। पं० जवाहरलाल ने भी कुछ दिन हुए, अपने एक वक्तव्य में फ़रमाया था कि राजनीतिक कशमकश की वजह से ये दंगे हुए। दोनों ही बातों में सचाई है। जब से कांग्रेस गवर्नमेंट हिन्दुस्तान के कई सूबों में स्थापित हुई, और जो मुसलमान नेता उसके पहले गोरी सल्तनत की सेवकाई के नाते अपने राजनीतिक प्रभाव का दबदबा दिखाया करते थे, उनका रोबदाब कांग्रेसी सूर्य के निकलने से अस्त हो गया। तब से ये लोग मुसलमानों में ज़ोर के साथ यह प्रचार करने लगे हैं कि हुकूमत हिन्दुओं के हाथ में चली गई और मुसल-मानों के साथ न सिर्फ़ सख़्ती, बल्कि ज़ुल्म हो रहा है। एक मौलाना के शब्दों में, हिन्दुओं ने मुसलमानों की हज़ार साल तक ग़ुलामी की—और अब यह देखते हैं कि हज़ार साल के ग़ुलाम हिन्दुओं के हाथ में ताक़त चली गई, मुसलमान भड़क उठते हैं। यह सही है कि पृथ्वीराज की हार के बाद से मुसलमान यहाँ के बादशाह हुए। मुस्लिम सल्तनत के वैभव का आधार हिन्दू-मुस्लिम सहयोग था। जब मुसलमान बादशाहत ख़तम हुई तब से ऐंग्लो-मुस्लिम-राज्य १९३७ तक क़ायम रहा।

अँगरेज़ और राजा-नवाब

अँगरेज़ों ने इस सूबे के मुसलमानों को अपना साथी बनाया और कुछ टुकड़े उनके सामने फेंककर उन्हें ख़रीद लिया। ऊपरी तौर से तो यह कहा जाता है कि हज़ार साल तक मुसलमानों की हुकूमत रही है; लेकिन असलियत में यह ठीक नहीं है। जो हुकूमत थी, वह हिन्दू और मुसलमान दोनों की थी। अगर इस सूबे के हिन्दू और मुसलमान आपस में एक दूसरे की परवाह न करते, तो इसमें कोई सन्देह नहीं कि यह सूबा सदियों पहले ही से लड़ाई-दंगे के कारण

खून से तर हो जाता और जहाँ हरियाली लहराती थी, वहाँ वियाबान जङ्गल हो जाता।

कांग्रेसवाले आज दिन भी अपने मुल्क की आज़ादी के लिए लड़ रहे हैं। वे हिन्दू राज्य या मुसलमान राज्य स्थापित करने के स्वप्न नहीं देखते। उनकी निगाह में न तो कोई हिन्दू है, और न मुसलमान। लेकिन यह बात भी हमें न भूलनी चाहिए कि कांग्रेस और पूँजीपतियों, सरमाएदारों, राजा और नवाबों में दृष्टिकोण का भेद है। वास्तव में कांग्रेस की जीत से राजा-नवाबों की पुश्तैनी हुकूमत और दबदबा तहस-नहस हो गया। मैं यह मुक्त कंठ से मानता हूँ कि ऐसे लोगों में सबकी यह कदापि न नीयत और न कोशिश हो सकती है कि इस सूबे में दंगे-फ़साद हों। मैं यह भी स्वीकार करता हूँ कि इन श्रेणियों के नेता भरसक इस बात की कोशिश भी करते रहते हैं कि फ़साद न हों; लेकिन दंगों के होने के लिए साम्प्रदायिक अविश्वास और तनातनी से परिपूर्ण वातावरण का पहले से मौजूद होना ज़रूरी है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि सार्वजनिक जीवन में साम्प्रदायिक विद्वेष के विष को फैलाने की ज़िम्मेदारी कांग्रेस-विरोधी संस्थाओं ने विशेष रूप से की है। मुस्लिम लीग ने इस विष-वपन का श्रीगणेश किया। उसी की प्रतिक्रिया-स्वरूप हिन्दुओं में भी साम्प्रदायिक संकीर्णता की ज्वाला धधक उठी। जो सरमाएदार हिन्दू थे उन्होंने हिन्दुओं को, और जो मुसलमान थे उन्होंने मुसलमानों को भड़काना शुरू किया। यद्यपि इस भड़काने की तह में कांग्रेस का विरोध था। इन चतुर नेताओं की यह नीयत थी और है कि कांग्रेस जनता में बदनाम हो जाय और ताक़त फिर इनके हाथों में लौट आये। वे यह भूल गये कि साम्प्रदायिक साँप को जलाना ख़तरे से ख़ाली नहीं है। इसीलिए इनके उत्तेजना-पूर्ण व्याख्यानों-वक्तव्यों ने अनपढ़ जनता में पारस्परिक विरोध के भावों को प्रबल कर दिया और एक सम्प्रदायवाले दूसरे सम्प्रदायवालों को पूर्ण शत्रु समझने लगे। यह सूबा एक तरह से बारूद का एक भण्डार बन गया। उसमें आकस्मिक चिनगारी कहीं से आ पड़ी नहीं कि आग धधक उठी और धड़ाका हो गया। ऐसी दशा में अपदस्थ, अतएव झुंझलाये हुए सरमाएदारों के सिर पर सूबे के नैतिक वातावरण को गन्दा करने की ज़िम्मेदारी है। सूबा बरबाद हो जाय, इसकी उन्हें चिन्ता नहीं है। इन दिलजलों को इस समय लगन लगी है

बदला लेने की और फिर से सिंहासन पर क़ब्ज़ा करने की। यही कारण है कि मुस्लिम लीग और हिन्दू सभा के पदाधिकारियों में हर श्रेणी के सरमाएदारों की आपको आजकल भरमार दिखाई देगी।

राजनीतिक चालबाज़ी

इसीलिए हम कहते हैं कि इस तह में राजनीतिक चालबाज़ी है। हमें इस तरह घबराना न चाहिए और न विचलित होना चाहिए। परिवर्त्तन के ज़माने में तो ऐसी बातें हुआ ही करती हैं। पुरातन के पुजारी तो यह चाहते हैं कि उनके सामने ज़माना सदा एक-सा बना रहे और जिन्हें वे सदियों से कुचलते आये हैं उन्हें वे पूर्ववत् कुचलते रहें। उन्हें यह अच्छी तरह समझ लेना चाहिए कि उनके दिन अब लद गये; युग निश्चित रूप से अब करवट बदल चुका है। उनका भला तो इसी में है कि वे बीती को बिसार दें। लेकिन इतिहास इस बात का साक्षी है कि ख़ून चूसनेवाले ज़माने को देखकर अपनी नीति में समुचित उलट-फेर नहीं कर सकते। हठधर्मी उन्हें मजबूर करती है। हाथ से जाती हुई सत्ता को अपने ही हाथ में बनाये रहने के लिए, इन श्रेणियों के लोगों ने घृणित से घृणित काम किये हैं। मुल्क की आज़ादी तक को बेचने से वे कभी नहीं हिचके। गृह-कलह की भयङ्कर आग अपने हाथ से लगाई, परदेशियों का स्वागत किया और अपने को ग़ुलाम बनाने में हर तरह से मदद पहुँचाई।

रूस में विप्लव हुआ था तो वहाँ ह्वाइट (श्वेत) रूसियों ने इसी तरह की चालें चली थीं और फ़ांस के राजा और नवाबों ने भी फ़ांस के प्रसिद्ध विप्लव के ज़माने में इसी तरह की नामुनासिब हरक़तें की थीं। इसलिए हमें कोई अचरज नहीं होता, जब हम देखते हैं कि इधर तो कुछ राजा साहबान और उनके साथी हिन्दुओं के पोषक बन गये हैं और उधर नवाब साहबान और उनके साथी मुस्लिम लीग की छत्रच्छाया में मुसलमानों को उकसाने में लगे हैं। ये लोग शासन-शक्ति के भूखे हैं और मंत्रिमण्डल में पहुँचने के लिए अगर इन्हें ग़रीब और भोली-भाली जनता की लाशों पर पैर रखकर जाना पड़े, तो इन्हें कुछ भी संकोच न होगा।

कांग्रेस सरकार का रुख

कांग्रेस गवर्नमेंट ने अभी तक इन लोगों को ढील दी। उसको विश्वास था कि राष्ट्रीय शासन के स्थापित होने पर सूबे के सब दल के लोग नेकनीयती से काम करेंगे। उसने सब तरह के बन्धन हटा लिये। लोगों को पूरी आज़ादी दे दी कि जो चाहे सो जलसों में कहें और अख़बारों में लिखें। हमें दुख के साथ कहना पड़ता है कि पिछले २१ महीने के तजुर्बे ने कांग्रेसी सरकार की इस आशा पर पानी फेर दिया। उसे दुख के साथ इस नतीजे पर पहुँचना पड़ा कि सूबे में कुछ ऐसे लोगों का गुट है, जो सरकार की रियायत और उदारता को उसकी कमज़ोरी समझता है। वह भाई-भाई में भेदभाव की धारणा को राजनीतिक कारणों से भड़काकर साम्प्रदायिक झगड़ों की आग में अपने हाथ सेकना चाहता है। इसलिए गवर्नमेंट अब ऐसे लोगों को दबाने के लिए सख़्ती की नीति बरतने के लिए विवश हो गई है। गुण्डा गुण्डा है। वह न हिन्दू है, और न मुसलमान। वह समाज का शत्रु है। ऐसे आदमी के साथ किसी तरह की दया करना साँप को दूध पिलाना है। ऐसे समाज-द्रोही के साथ तो वही सलूक होना चाहिए, जो पागल कुत्ते के साथ किया जाता है। साथ ही सूबे की सरकार उन लोगों की भी ख़बर लेने जा रही है, जो बाहर ही बाहर से साम्प्रदायिक आग को उकसाते रहते हैं और साम्प्रदायिक दङ्गों के कारण जब उनके बुद्धू फँस जाते हैं तब उनको छुड़ाने या बचाने की कोशिशें करते हुए पेश नज़र आते हैं। पागल कुत्ते का साथी या जो हमदर्द है, वह समाज का उतना ही बड़ा दुश्मन है, जितना बड़ा पागल कुत्ता ख़ुद है। छुरी भोंकनेवाला उतना दोषी नहीं है जितना वह दोषी है जिसके इशारे से छुरी चलाई जाती है।

साम्प्रदायिक विष उगलनेवाले अख़बारों और वक्ताओं की भी अब ख़बर ली जायगी। सूबे की शान्ति भङ्ग करने में आगे जो कोई भी चेष्टा करेगा उसे फ़ौरन ही अपनी करतूत का फल भुगतना ही पड़ेगा। इस सूबे के प्रधान मंत्री, माननीय श्री गोविन्दवल्लभ पन्त ने युक्त-प्रांतीय असेम्बली में ३० मार्च को बोलते हुए साम्प्रदायिक दङ्गों के विषय को हल करने की नीति का स्पष्ट शब्दों में एलान कर दिया है। उस पर अमल होना भी शुरू हो गया है; और मुझे पूरा

विश्वास है कि थोड़े ही दिनों में, इस सूबे को उन दुष्टों से छुटकारा मिल जायगा, जो अभी तक राजनीतिक आज़ादी की दोहाई देते हुए सार्वजनिक शान्ति को भङ्ग करने में मग्न थे।

सरकारी नीति कैसे सफल हो ?

सरकारी नीति की सफलता तभी हो सकती है जब सूबे का प्रत्येक कांग्रेसमैन इस मामले में अपनी ज़िम्मेदारी को अच्छी तरह से समझ ले। यह ज़रूरी है कि जिनके ऊपर ज़िम्मेदारी है, वे ख़ुद पाक दिल हों और उनके लिए हिन्दुस्तान का हर एक बच्चा सगे भाई के बराबर हो। कांग्रेसमैन न तो हिन्दू है और न मुसलमान, वह तो हिन्दुस्तानी है। उसके लिए जो कोई हिन्दुस्तान में पैदा हुआ है वह अपना है। इकबाल के शब्दों में, वह कहता है "हिन्दी है, हमवतन है, हिन्दोस्तान हमारा।" उसे तो इसका विश्वास है कि—"मजहब नहीं सिखाता आपस में बैर रखना।" इसलिए सूबे के एक कोने से दूसरे कोने में इस सन्देश को घर-घर पहुँचा देना चाहिए :—

"अपने से बैर रखना,
तूने बुतों से सीखा।
जंगो जहद सिखाया,
वाइज़ को भी ख़ुदा ने॥"

इस सूबे के रहनेवालों से हम कांग्रेसवालों का यह कहना है :—

"न समझोगे तो मिट जाओगे,
ऐ हिन्दोस्तान वालो।
तुम्हारी दास्ताँ तक भी,
न होगी दास्तानों में॥"

अगर इस देश के हिन्दू-मुसलमान इकबाल की यह बात समझ लें और हृदय से यह कहने लगें :—

"खाके वतन का मुझको,
हर ज़र्रा देवता है।"

तो फिर यह नामुमकिन हो जायगा कि भाई का हाथ भाई को मारने के लिए उठे। अगर कांग्रेसवालों के कान में 'चकवस्त' का नीचे दिया हुआ संदेश रात-दिन गूँजने लगे, तो सूबे की हालत बहुत जल्द सुधर सकती है :—

"ऐ सूर हुब्बे क़ौमी
इस ख़्वाब से जगा दे,
भूला हुआ फ़साना
कानों को फिर सुना दे ॥
मुर्दा तबीयतों की
अफसुर्दगी मिटा दे,
उठते हुए शरारे
इस राख से दिखा दे ॥"

काग्रेसमैनों के ऊपर आजकल के लोग फब्तियाँ कसते हैं; उनका मज़ाक उड़ाते हैं और साम्प्रदायिक दङ्गों के सवाल को लेकर उनकी राजनीतिक नाकामयाबी पर ख़ुश होते हैं। फब्तियाँ कसनेवाले ख़ुश भले ही हो लें; हमारा मख़ौल उड़ाने से अगर उनकी मुरझाई तबीयतें फिर से हरिया उठती हैं, तो हमें कोई ख़ास शिकायत नहीं। सम्भव है कि जो कुछ सारे फ़साद हो रहे हैं वे न होते, अगर हमने पहले ही से साम्प्रदायिक दङ्गों के साथ उसी तरह का व्यवहार किया होता जिस तरह का व्यवहार ब्रिटिश सरकार ने प्रसिद्ध ठगी-प्रथा का अन्त करने के लिए किया था। पर अब तो समय आ गया है कि साम्प्रदायिकता के खुले चैलेंज को हम संजीदगी के साथ स्वीकार करें, और अपनी लगन और कोशिश से इस भयङ्कर दुश्मन को सदा के लिए तहस-नहस कर दें।

सर्वसाधारण से

साम्प्रदायिक कंस की मौत का परवाना कांग्रेसवालों के पास पहुँच गया है। उस परवाने को लेकर हमें दिलेरी, हिम्मत और उमंग के साथ आगे बढ़ना चाहिए, क्योंकि जब तक इस कंस का विध्वंस नहीं होगा तब तक पराधीनता रूपी जगनिन्धु इस देश में आतङ्क जमाता रहेगा। अगर हममें से किसी के दिल में कुछ भी साम्प्रदायिक मैल हो, तो उसे फ़ौरन हम लोगों को निकाल

फेंकना चाहिए। विजय हमारे गले में माला डालने के लिए उत्सुक है। दुनिया के इस ज़माने में जब हमारी आँखों के सामने मिनट-मिनट पर उथल पुथल हो रही है, छोटी-छोटी बात में फँसे रहना मुल्क के साथ दग़ाबाज़ी करना है। हम बड़े बाप के बेटे हैं, इस मुल्क में पैदा होने के नाते हम बड़ी बपौती के वारिस हैं। जो हमारा भूत था, उससे भी कहीं ज़्यादा महान् हमारा भविष्य है। संसार के भाग्य का हमारे हाथ निबाह है, इसलिए हमें दृढ़संकल्पी बनकर रास्ते में जो काँटे हैं, उनको निकाल फेंकना चाहिए। साम्प्रदायिक दङ्गे ऐसे ही काँटे हैं। इनको देखकर हाथ-पैर फुलाने की कोई ज़रूरत नहीं है, ये क्षणिक हैं और अगर हम कांग्रेसवाले इधर थोड़ी भी तवज्जह दे दें, तो आसानी से सदा के लिए ये काँटे दूर हो सकते हैं।

सन् १९४०]

तो फिर यह नामुमकिन हो जायगा कि भाई का हाथ भाई को मारने के लिए उठे। अगर कांग्रेसवालों के कान में 'चकबस्त' का नीचे दिया हुआ संदेश रात-दिन गूँजने लगे, तो सूबे की हालत बहुत जल्द सुधर सकती है :—

"ऐ सूर हुब्बे क़ौमी
इस ख़्वाब से जगा दे,
भूला हुआ फ़साना
कानों को फिर सुना दे ॥
मुर्दा तबीयतों की
अफसुर्दगी मिटा दे,
उठते हुए शरारे
इस राख से दिखा दे ॥"

कांग्रेसमैनों के ऊपर आजकल के लोग फब्तियाँ कसते हैं; उनका मज़ाक उड़ाते हैं और साम्प्रदायिक दङ्गों के सवाल को लेकर उनकी राजनीतिक नाकामयाबी पर ख़ुश होते हैं। फब्तियाँ कसनेवाले ख़ुश भले ही हो लें; हमारा मख़ौल उड़ाने से अगर उनकी मुरझाई तबीयतें फिर से हरिया उठती हैं, तो हमें कोई ख़ास शिकायत नहीं। सम्भव है कि जो कुछ सारे फ़साद हो रहे हैं वे न होते, अगर हमने पहले ही से साम्प्रदायिक दङ्गों के साथ उसी तरह का व्यवहार किया होता जिस तरह का व्यवहार ब्रिटिश सरकार ने प्रसिद्ध ठगी-प्रथा का अन्त करने के लिए किया था। पर अब तो समय आ गया है कि साम्प्रदायिकता के खुले चैलेंज को हम संजीदगी के साथ स्वीकार करें, और अपनी लगन और कोशिश से इस भयङ्कर दुश्मन को सदा के लिए तहस-नहस कर दें।

सर्वसाधारण से

साम्प्रदायिक कंस की मौत का परवाना कांग्रेसवालों के पास पहुँच गया है। उस परवाने को लेकर हमें दिलेरी, हिम्मत और उमंग के साथ आगे बढ़ना चाहिए, क्योंकि जब तक इस कंस का विध्वंस नहीं होगा तब तक पराधीनता रूपी जलसिन्धु इस देश में आनन्द जमाता रहेगा। अगर हममें से किसी के दिल में कुछ भी साम्प्रदायिक मैल हो, तो उसे फ़ौरन हम लोगों को निकाल

वह कथित देशद्रोहियों के प्रति काफ़ी सख़्ती से पेश नहीं आती। ग़ैर-कांग्रेसी-दल कांग्रेसियों की शक्ति को ठीक नहीं कहते। उनकी उलटी शिकायत है कि जब से कांग्रेस हुकूमत इस सूबे में क़ायम हुई, तब से प्रत्येक चवन्नीवाला कांग्रेस-मैन अपने को प्रान्त का हाकिम समझ बैठा है। और यही वजह है कि सूबे में आये दिन बदअमनी फैल रही है। बदअमनी, अराजकता, उद्दंडता, स्वेच्छाचरिता—शब्द चाहे जो कुछ हों, उन सबका तात्पर्य केवल यह है कि कांग्रेस गवर्नमेंट की कमज़ोरी के कारण बदअमनी फैलानेवाले शरारती गुण्डों की बन आई है।

कांग्रेस-हुकूमत ने क्या किया ?

इस परिस्थिति के उपस्थित होने का क्या कारण है? जब कांग्रेस गवर्नमेंट ने शासन की बागडोर अपने हाथ में ली, तब सूबे के प्रायः सभी लोग प्रसन्न थे। कांग्रेस के विरोधियों का भी यही कहना था कि राजनैतिक मत-भेद होते हुए भी कांग्रेसी हुकूमत स्वदेशी हुकूमत है और इसीलिए उसके साथी भी प्रायः देशभक्त हैं। सदियों के बाद जुलाई १९३७ को वह दिन हमें देखने को नसीब हुआ, जब कि जनता के चुने हुए नुमाइन्दों के हाथ में हुकूमत की लगाम आई। माना कि वह हुकूमत पूर्ण स्वराज न था, माना जितने के हम हक़दार थे वह हमें नहीं मिला था; हमे खण्डित, भग्न, साथ ही अधूरी ताक़त दी गई थी; लेकिन कितनी ही थोड़ी वह क्यों न हो, ताक़त तो हिन्दुस्तानियों के हाथ में आई, इसी बातकी ख़ुशी थी।

कांग्रेस-हुकूमत ने राजसिंहासन पर बैठते ही घोषणा प्रचारित की कि अब से इस सूबे में दमननीति का सदा के लिए अन्त हो गया। दमनकारी क़ानून का अब से इस सूबे में प्रयोग न होगा और उन क़ानूनों के जो शिकार थे, वे एकदम से मुक्त कर दिये गये। जेलों के दरवाज़े खोल दिये गये ताकि राजनैतिक क़ैदी स्वतन्त्रतापूर्वक बाहरी दुनिया की हवा में विचर सकें। छापेख़ानों की ज़मानत वापस कर दी गई और उन्हें इस बात की आज़ादी दी गई कि वे जो चाहें सो लिखें। सब तरह के प्रतिबन्ध एक तरह से हटा लिये गये। कराची-कांग्रेस के प्रस्ताव में कांग्रेस की ओर से यह प्रतिज्ञा की गई थी कि स्वराज मिलने पर

कांग्रेस-हुकूमत और दमन

आजकल हमारे सूबे में अमन-चैन की महत्ता की ओर सब श्रेणी के लोगों का ध्यान विशेष रूप से खिंच गया है। शान्ति की महत्ता अभी तक हमने समाज के जीवन या राजनैतिक विकास में, उतनी अधिक अच्छी तरह से समझने की चेष्टा नहीं की, जितनी अच्छी तरह से पिछले दो वर्ष में होनेवाली घटनाओं की विवशता ने अनुभव करने के लिए हमें अब मजबूर कर दिया है। आजकल जहाँ जाइए, वहाँ एक ही आवाज़ सुनाई देती है और लोगों की ज़बान पर एक ही पुकार है। आवाज़ आती है कि कांग्रेसी सरकार के ज़माने में तरह-तरह के झगड़े, फ़साद, दिन-प्रतिदिन बढ़ते जा रहे हैं और उनके रोक-थाम का इन्तज़ाम वह नहीं कर रही है। ज़मींदार किसानों की दिन-प्रतिदिन बढ़ती हुई उद्दंडता की मिसाल हमारे सामने पेश करते हैं। मिल-मालिक मज़दूरों की धींगा-मुश्ती और अनियंत्रित हड़तालों की ओर इशारे कर कांग्रेस-सरकार के ज़माने में अराजकता फैलाये जाने का इल्ज़ाम लगाते हैं। मुस्लिम लीग इस सूबे के रहने-वाले मुसलमानों पर कथित अत्याचार की दुहाई देती हुई, सूबे की सरकार की कमज़ोरी का दुखड़ा रोया करती है। किसानों की शिकायत है कि ज़मींदारों की हाथापाई का कोई माकूल इन्तज़ाम नहीं। मज़दूर मिल-मालिकों की स्वेच्छाचारिता को न दबाने के लिए कांग्रेस-सरकार की निन्दा करते हैं। कालेज और विश्वविद्यालयों के विद्यार्थियों की हड़तालों की धूम-सी पिछले दो साल में मच गई। मुस्लिम लीग के आरोपों के सम्बन्ध में हिन्दुओं का कहना है कि कांग्रेस सरकार मुसलमानों के साथ रियायत करने में, इस हद तक बढ़ती जाती है कि हिन्दुओं के स्वत्वों की खुल्लम-खुल्ला हत्या करना कांग्रेस गवर्नमेंट ने अपना धर्म मान लिया है। हाँ, कांग्रेसियों की भी बहुत-सी शिकायतें हैं—उनका कहना है कि कांग्रेस हुकूमत गैर-कांग्रेसियों को मुँह लगाये है, बेजा तौर से मुँह लगाये है, अपनी कमज़ोरी से उनको बढ़ावा दे रही है और सूबे में इस समय जो कुछ भी अराजकता के लक्षण दिखाई देते हैं, उसका एकमात्र कारण यह है कि

कर डाला। आयर्लैंड में भी यही हुआ। वहाँ भी गृह-कलह ने अपना तांडव-नृत्य दिखाया। उसकी तुलना में हमारे सूबे में जो दङ्गे-फ़साद हुए, वे नगण्य हैं। क्रान्ति की व्यापकता परिमाण में हमारे यहाँ भी उतनी ही अधिक है, जितनी अन्य देशों में। अचरज इस बात का हमें नहीं है कि हमारे सूबे में भी दंगे हुए। अगर दङ्गे न होते, तो अचरज की बात होती। जितनी हुई उससे भी कहीं अधिक हुई होती, तो भी अचरज की बात न होती। अगर विचार से देखा जाय, तो अचरज इसका नहीं है कि कांग्रेसी हुकूमत क़ायम होने के बाद से इस सूबे में कुछ थोड़े से स्थानों में दङ्गे हुए हैं। अचरज तो इस बात का है कि एक लाख वर्गमील लम्बे चौड़े और ४ करोड़ ८० लाख आबादीवाले सूबे में सिर्फ़ इने-गिने स्थानों में दङ्गे हुए। इसी का एक और पहलू है जिसे हमें न भूलना चाहिए, जैसे रूस में वैसे ही हमारे सूबे में भी क्रान्ति की विरोधी शक्तियाँ मौजूद थीं और हैं। जिन लोगों ने इतने दिनों तक हुकूमत की या हुकूमत में अपना सहयोग दिया, वे कांग्रेस सरकार के आते ही एकदम से बेकार हो गये। उनसे यह कैसे आशा की जा सकती थी कि वे इस परिवर्त्तन को चुपचाप सह लेंगे। जिन्होंने कल कांग्रेस की मुख़ालिफ़त की थी और कोई दक़ीका न उठा रक्खा था, उनको मिटाने और हटा देने के लिए, उनसे यह भरोसा करना कि वे अपने विरोधियों को एकदम से भूल जायँगे और कल के विरोधी आज कांग्रेसियों के साथी हो जायँगे, सरासर भूल है। ऐसी दशा में दङ्गे का होना अनिवार्य था। हमारे जातीय जीवन में और भी विष उपस्थित है जिसकी बदौलत न सिर्फ़ इस सूबे में, बल्कि अन्य सूबों में भी बहुत पुराने ज़माने से फ़साद होते चले आये हैं। उस ज़हर का नाम है "साम्प्रदायिकता"।

मुस्लिम लीग की चालें

मुस्लिम लीग ने उस समय से ज़ोर पकड़ा जब से कांग्रेसी हुकूमत क़ायम हुई और मन्त्रिमण्डलों में मुस्लिम लीग के सदस्यों को स्थान न दिया गया। प्रचार का कोई ऐसा साधन नहीं है जिसके द्वारा मुस्लिम लीग के एजेण्टों ने इस ज़हर को फैलाने की कोशिश न की हो। इस तरह साम्प्रदायिक तनातनी बढ़ती गई और बेगुनाहों के ख़ून से हमारे प्रान्त की भूमि सिंची। मुस्लिम लीगवालों का दावा है कि हज़ार साल से हिन्दू ग़ुलाम रहे हैं और मुसलमानों ने हुकूमत

हिन्दुस्तानियों को अपने जन्मजात अधिकारों को बरतने में किसी तरह की रोक-थाम न की जाय।

नागरिक स्वतन्त्रता

नागरिक स्वतन्त्रता का उसी प्रस्ताव के द्वारा एलान किया गया था। संगठन की आज़ादी, बोलने की आज़ादी, लिखने की आज़ादी तथा आने-जाने की स्वतन्त्रता प्रत्येक नागरिक को देने के लिए कांग्रेस वादा कर चुकी थी। इसीलिए जब कांग्रेस सरकार की स्थापना इस सूबे में हुई, तब नागरिकों की स्वतन्त्रता पर जितनी रुकावटें पहले की सरकार ने लगा रक्खी थीं, उन सबको कांग्रेसी सरकार ने उठा लिया। पं० जवाहरलाल नेहरू ने हिन्दुस्तान के विभिन्न सूबे और नगरों में नागरिक स्वतन्त्रता की रक्षा और प्रसार के लिए कमेटियाँ स्थापित कीं। आज़ादी की लहर ज़ोर से चारों दिशाओं में द्रुतगति से बढ़ने लगी, और सदियों के गुलाम, १९३७ की जुलाई के बाद से, स्वतन्त्र व्यक्तियों की तरह निडर भाव से उठ खड़े हुए। इस बुनियादी क्रान्ति ने कोई १०० सदियों के इतिहास पर हरताल फेर दी। जो युगों से पराधीन थे, दूसरों के ग़ुलाम थे, त्रसित थे, भयग्रस्त थे, ठकुरसोहाती करने के आदी हो गये थे और मन की बात चुराना जिनकी प्रकृति का अंग बन गया था, वे पहली बार स्वतन्त्रता की हवा में निर्भय होकर अपने दुखों को प्रकट करने और उनको मिटाने के लिए संगठित होने की चेष्टाएँ करने लगे।

साम्प्रदायिकता का ज़हर

युग ने एकदम से करवट बदली। पुरानी बातें, पुरानी आदतें, पुराने व्यवहार, पुराने नियम, पुरानी यन्त्रणाएँ और पुराने रस्म-रिवाज चुटकी बजाते ही लोप होने लगे। इतना व्यापक, इतना बुनियादी परिवर्तन हिन्दुस्तान के बाहर जिस किसी भी देश में हुआ है, वहाँ पर ख़ून की नदियाँ बह चुकी हैं, हज़ारों-लाखों बरबाद हो चुके हैं, सैकड़ों हज़ारों की गर्दनों को जल्लादों की तल-वारों ने चूमा है। पुरानी बातों को जाने दीजिए, रूस की १९१७ वाली क्रान्ति को लीजिए। वहाँ पर विप्लव के कारण कितने उथल-पुथल नहीं हुए? दंगों-फ़सादों की कौन कहे, गृहकलह की भयङ्कर ज्वाला ने न जाने कितनों को तहस-नहस

कर डाला। आयर्लैंड में भी यही हुआ। वहाँ भी गृह-कलह ने अपना तांडव-नृत्य दिखाया। उसकी तुलना में हमारे सूबे में जो दङ्गे-फ़साद हुए, वे नगण्य हैं। क्रान्ति की व्यापकता परिमाण में हमारे यहाँ भी उतनी ही अधिक है, जितनी अन्य देशों में। अचरज इस बात का हमें नहीं है कि हमारे सूबे में भी दंगे हुए। अगर दङ्गे न होते, तो अचरज की बात होती। जितनी हुई उससे भी कहीं अधिक हुई होती, तो भी अचरज की बात न होती। अगर विचार से देखा जाय, तो अचरज इसका नहीं है कि कांग्रेसी हुकूमत क़ायम होने के बाद से इस सूबे में कुछ थोड़े से स्थानों में दङ्गे हुए हैं। अचरज तो इस बात का है कि एक लाख वर्गमील लम्बे चौड़े और ४ करोड़ ८० लाख आबादीवाले सूबे में सिर्फ़ इने-गिने स्थानों में दङ्गे हुए। इसी का एक और पहलू है जिसे हमें न भूलना चाहिए, जैसे रूस में वैसे ही हमारे सूबे में भी क्रान्ति की विरोधी शक्तियाँ मौजूद थीं और हैं। जिन लोगों ने इतने दिनों तक हुकूमत की या हुकूमत में अपना सहयोग दिया, वे कांग्रेस सरकार के आते ही एकदम से बेकार हो गये। उनसे यह कैसे आशा की जा सकती थी कि वे इस परिवर्त्तन को चुपचाप सह लेंगे। जिन्होंने कल कांग्रेस की मुख़ालिफ़त की थी और कोई दक़ीका न उठा रक्खा था, उनको मिटाने और हटा देने के लिए, उनसे यह भरोसा करना कि वे अपने विरोधियों को एकदम से भूल जायँगे और कल के विरोधी आज कांग्रेसियों के साथी हो जायँगे, सरासर भूल है। ऐसी दशा में दङ्गे का होना अनिवार्य था। हमारे जातीय जीवन में और भी विष उपस्थित है जिसकी बदौलत न सिर्फ़ इस सूबे में, बल्कि अन्य सूबों में भी बहुत पुराने ज़माने से फ़साद होते चले आये हैं। उस ज़हर का नाम है "साम्प्रदायिकता"।

मुस्लिम लीग की चालें

मुस्लिम लीग ने उस समय से ज़ोर पकड़ा जब से कांग्रेसी हुकूमत क़ायम हुई और मन्त्रिमण्डलों में मुस्लिम लीग के सदस्यों को स्थान न दिया गया। प्रचार का कोई ऐसा साधन नहीं है जिसके द्वारा मुस्लिम लीग के एजेण्टों ने इस ज़हर को फैलाने की कोशिश न की हो। इस तरह साम्प्रदायिक तनातनी बढ़ती गई और बेगुनाहों के ख़ून से हमारे प्रान्त की भूमि सिंची। मुस्लिम लीगवालों का दावा है कि हज़ार साल से हिन्दू गुलाम रहे हैं और मुसलमानों ने हुकूमत

की है। कांग्रेस सरकार को वे हिन्दुओं की सरकार कहते हैं। ऐसी दशा में मुस्लिम लीगवाले फ़सादों के ज़रिये से यह दिखा देना चाहते हैं कि हिन्दू हुकूमत करने के नाक़ाबिल हैं और इस सूबे में अमनचैन तभी हो सकता है जब कि पन्तजी और काटजूजी के स्थान पर छतारी या खलीक राज्य करें। जिस पैमाने पर मुस्लिम लीग ने अपने झूठे प्रोपेगैंडा के द्वारा मुसलमानों में हिन्दुओं के ख़िलाफ़ उत्तेजना फैलाई और उस उत्तेजना फैलाने के फलस्वरूप हिन्दुओं में आग लगाई—उस पर एक नज़र डालिए और फिर एक नज़र डालिए उन इने-गिने स्थानों पर जहाँ पर आग लगी। इस साम्प्रदायिक विद्वेष ने जो आग लगाई थी वह इस नीयत से लगाई कि सारे सूबे में फैल जाय और प्रान्त का प्रान्त खाक में मिल जाय। उनकी यह मंशा पूरी न हुई, उनकी चालें असफल सिद्ध हुईं।

भीरु हिन्दुओं का शोर-गुल

हमारे सूबे में जहाँ मुस्लिम लीगवाले हैं, वहाँ पर कुछ ऐसे हिन्दुओं की तादाद भी कम नहीं है, जो अपने जान व माल की हिफ़ाज़त की चिन्ता में रात-दिन परेशान रहते हैं। ऐसे ही पुश्तैनी भीरु हिन्दुओं के आसन फ़सादियों ने हिला दिये। इन भीरु हिन्दुओं की ज़िन्दगी का सिर्फ़ एक ही ध्येय था कि जिस तरह हो, उसी तरह वे ज़िन्दा बने रहें। महज़ ज़िन्दगी को वे दुनिया की सबसे बड़ी नियामत समझते हैं। भूखों मरना मंज़ूर, दूसरों की लातें सहना मंज़ूर, ग़ुलाम होना मंज़ूर, लुट जाना मंज़ूर, यहाँ तक कि वे सब कुछ सहने को तैयार, अगर उनको कोई ज़िन्दा रहने दे। ज़िन्दगी, ज़िन्दगी, हाय ज़िन्दगी, नाली के कीड़ों की भी ज़िन्दगी, कुत्तों की भी ज़िन्दगी, सुअरों की भी ज़िन्दगी, गधों की भी ज़िन्दगी, कोल्हू के बैलों की भी ज़िन्दगी! लेकिन सच्ची ज़िन्दगी वही है जिसका नाम ज़िन्दादिली है। जीवट को जीवन कहते हैं। लेकिन हमारे सूबे के कुछ खानदानी भीरु हिन्दुओं का चित्र शुक्रनीति में बड़े सुन्दर शब्दों में कई सौ शताब्दी पहले कहा जा चुका है:—

आपदर्थे धनं रक्षेद्, दारान् रक्षेद् धनैरपि।
आत्मानं सततं रक्षेद्, दारैरपि धनैरपि॥

ये ही हमारे ख़ानदानी कायर, इस समय अपनी जान व माल की हिफ़ाज़त के लिए बेतरह शोरगुल मचा रहे हैं। हमें दुख के साथ कहना पड़ता है कि इन भीरुओं में कुछ कांग्रेसी भी शामिल हो गये हैं। कांग्रेस तो वीरों की संस्था है, ऐसे लोगों की संस्था है जो संकट के समय विचलित होना नहीं जानते हैं। कांग्रेसी सत्याग्रही हैं और सत्याग्रही कायर नहीं होता। सत्याग्रही में आत्म-संयम होता है, कठोर से कठोर अवसर पर कोई उसे कसे, वह खरा उतरेगा। संकट-विपत्ति देखकर वह डरता नहीं, घबराता नहीं, उसके ऊपर विजयी का उसे सदा उत्साह रहता है। विरोध होने से वह भागता नहीं, हिम्मत नहीं हारता। प्रतिकूल परिस्थिति को अनुकूल बनाना ही उसके जीवन की सार्थकता है, उसके प्रयत्न की सफलता है। कांग्रेस-विरोधी कांग्रेस को भले ही बदनाम करने के लिए इन साम्प्रदायिक दंगों को ज़रूरत से ज़्यादा अहमियत दें। दंगे बुरे हैं। इसमें बहुत से निरपराध, निरीह आदमियों की जानें जाती हैं, शांति भंग होती है, प्रवृत्ति रुक जाती है और साम्प्रदायिक क्षति होती है। अगर दंगा न हो तो अच्छा है, और यदि हो तो जितनी जल्दी हो सके, वह ख़त्म हो जाय उतना ही अच्छा है। लेकिन यह परले दर्जे की राजनीतिक हिमाक़त है कि इन दंगों को देखकर हमारे हाथ-पैर फूल जायँ और हम बदहवास होकर मुख़ालिफ़ों की हाँ में हाँ मिलाने लगें।

. . . .

दंगा शोचनीय है, इससे हमें हर तरह का नुक़सान होता है। लेकिन हाल के दंगों की बदौलत हमारे सार्वजनिक जीवन में एक अंश में लाभ भी पहुँचा है। वह यह है कि बरबस कांग्रेसवालों को नागरिक स्वतन्त्रा की सीमा-सम्बन्धी विचार करना पड़ गया है और इस समस्या के कारण हमारा ध्यान दूसरी समस्याओं की ओर हठात् खिंच गया। दमन और नागरिक स्वतंत्रता में क्या सम्बन्ध है, कहाँ तक नागरिक स्वतन्त्रता का समानादर करने की ज़रूरत है और कब वह स्वतन्त्रता दुरतन्त्रता में बदल जाती है और किस हद तक जायज़ है? कांग्रेसी गवर्नमेंट उस समय तक कांग्रेसी है, जिस समय तक वह नागरिक स्वतन्त्रता की परिधि को दिन-प्रतिदिन अधिक से अधिक सुव्यवस्थित करने की चेष्टा में संलग्न हो। इस हुकूमत का ध्यान है कि प्रजासत्ता और प्रजासत्तात्मक शासन का अर्थ है, प्रजा शासन और प्रजा द्वारा प्रजा-हित में शासन। शासित की अनुमति ही

के आधार पर प्रजा चल सकती है। शासक का डंडा, शासक के डंडे का सहारा प्रजासत्ता सर्वसाधारणतः लेना पसन्द नहीं करेगी।

शासन का आधार क्या होगा?

अतः हमारे सामने यह भी समस्या उठ खड़ी हुई है कि यह हुकूमत क्या इस सूबे में शासन का आधार शासित की अनुमति से बनाना चाहती है या डंडे के बल पर राज्य करना चाहती है। एक और भी प्रश्न उठ खड़ा हुआ है और वह यह है कि क्या शान्ति-रक्षा की ज़िम्मेदारी सिर्फ़ हुकूमत और उसके मुलाज़िमों पर ही है या प्रजासत्तात्मक देश में इसकी ज़िम्मेदारी प्रजा पर भी होती है? प्रजासत्ता उसी देश में सफल हो सकती है, जिसकी जनता क़ानून में—अपने बनाये हुए क़ानूनों में—अपने आपको पाबन्द समझती है। प्रत्येक आदमी को अपनी राय पर काम करने की, प्रजासत्ता में आज़ादी न रक्खी जाय। बहुमत और उस बहुमत का प्रतिनिधित्व शासनमण्डल जो कुछ निर्णय करता है, उस निर्णय को बहुमत के समर्थक और विरोधी एक भाव से अपने ऊपर, अपने लिए मान्य समझें। लेकिन दूसरों की कौन कहे, कुछ कांग्रेसी भी कहाँ तक प्रजासत्ता के इन उसूलों को समझ पाये हैं, इसके विषय में हमें सन्देह होने लगा है जब हम अपने एक आदरणीय मित्र का वह लेख पढ़ते हैं जिसमें उन्होंने अपने नगरवालों को जायज पुलिस टैक्स के ख़िलाफ़ सत्याग्रह करने की सिखावन दी है। एक ओर कांग्रेस गवर्नमेंट पर यह लाञ्छन कि उसने जान व माल की पूरी तौर से हिफ़ाज़त न की: जैसे, मानो उसी ने हिन्दू और मुसलमानों को यह सबक पढ़ाया था कि हिन्दू हिन्दू-गुण्डों को और मुसलमान मुसलमान-गुण्डों को पनाह दें। गुण्डे अगर ख़ून करते हैं, तो उनके सम्प्रदायवाले उनको बचाने के लिए घृणित से घृणित कार्यवाही किया करते हैं। झूठी शहादत तैयार करना, रिश्वत देना, गवाहों को बिगाड़ना हर सम्प्रदायवाले जायज़ समझते हैं। गुण्डे अगर गुंडापन करते हैं, तो अपने-अपने सम्प्रदायवालों की नैतिक शक्ति और सहायता के बिर्ते पर करते हैं। यदि उन्हें हम लोग बढ़ावा न दें, शहर के भले कहलानेवाले व्यक्ति उन्हें मदद न पहुँचायें, तो दंगों का होना असम्भव हो जाय। फ़सादों की ज़िम्मेदारी सिर्फ़ गुंडे कहलानेवाले व्यक्तियों पर

ही नहीं है। फ़साद यदि होता है तो सम्प्रदायों की नैतिक उत्तेजना के कारण साम्प्रदायिकता पर हिंसा है। इन दंगों को जल्द से जल्द न ख़तम होने देना और साम्प्रदायिक स्वार्थपरता, गुण्डों को अपने कुकर्मों का पूरा-पूरा फल भोगने से बचाने में सफल होती है। सामूहिक दायित्व का अभाव साम्प्रदायिक दंगों की जड़ में है। इसी अभाव को पूरा करने के लिए, आज की सोती हुई आत्मा को जगाने के लिए साम्प्रदायिक विद्वेष की नाशकारिणी परिणामों की अनुभुति को तीव्र करने के लिए यह परमावश्यक है कि दोषी व्यक्तियों के साथ ही साथ सम्प्रदायों को भी दंड दिया जाय, तब नागरिक दायित्व को हम महसूस करने लगेंगे।

नागरिक दायित्व और स्वतन्त्रता

नागरिक स्वतन्त्रता की माँग उसी देश में सम्भव है, जहाँ के निवासी अपने नागरिक दायित्व को समझते हैं और समझकर उसको पूरा करने को भी तैयार रहते हैं। स्वतन्त्रता के भाव को जगाना और उसको बलवान् बनाना यदि कांग्रेसी हुकूमत का धर्म है, तो सामूहिक दायित्व के भाव को प्रोत्साहन देना भी उसका कर्त्तव्य है। लेकिन हमारे श्रद्धास्पद मित्र अब भी उसी लकीर को पीटते चले आ रहे हैं। जो आक्षेप परदेशी शासन के ज़माने में लगा था, उसी को लोग आज दिन दोहरा रहे हैं। तब में और अब में कितना अन्तर हो गया है, इसका यदि उन्हें कुछ भी पता है, तो अपने अधिकारों के माँगने में कांग्रेस हुकूमत द्वारा दी गई नागरिक स्वतन्त्रता का प्रयोग है। उन्हें यह पता नहीं है कि नागरिक स्वतन्त्रता का एक दूसरा भी पहलू है। वह एकलौती नहीं जुड़वाँ पैदा हुई है। यदि एक का नाम नागरिक स्वतन्त्रता है, तो दूसरे का नाम नागरिक दायित्व है।

अपने दायित्व को तो वे समझते नहीं, मानते भी नहीं। दमन और दमन की फिर भी पुकार आज दिन बुलन्द होती है। दमन से आज तक किसी नैतिक समस्या का समाधान नहीं हुआ। दमन समस्या का समाधान नहीं है, उसमें असन्तोष मौजूद नहीं, चाहे ज़मीन के नीचे भले ही चली जाय, दमन का असर खंडित है, अस्थायी है और चन्दरोज़ा है। राजनैतिक रोगों का इलाज प्रजासत्ता में परस्पर सहानुभूति

और सहयोग के द्वारा सम्भव है। दमन के द्वारा शान्ति स्थापित हो सकती है, लेकिन वह शान्ति होगी मरघट की और क़ब्रिस्तान की। सिर्फ़ मुर्दों में झगड़ा नहीं होता, इसीलिए कांग्रेस गवर्नमेंट दमन की नीति का अवलम्बन इतनी स्वेच्छाचारिता के साथ नहीं, करती जितनी स्वेच्छाचारिता के साथ परदेशी करते हैं या कर सकते हैं। इसलिए मैं पूछता हूँ कि जो लोग दमन के अन्धभक्त बन गये हैं, वे क्या मरघट की शान्ति के उपासक हैं या नागरिक स्वतन्त्रता के ? अपने दावे को एकदम से भूल गये ? अगर नहीं भूल गये तो इस लेख द्वारा मैं ऐसे सब मित्रों को निमन्त्रण देना चाहता हूँ कि वे नागरिक स्वतन्त्रता बनाम दमन पर अपने-अपने मन्तव्यों को मेरे पास लिख भेजने की कृपा करें। मैं उन विचारों को बड़े आदर के साथ पढ़ूँगा और यह वादा करता हूँ कि उनके उपदेशों से अधिक से अधिक लाभ भी उठाने के लिए तैयार हूँ। इसलिए मुझे आशा भी होती है कि मेरे लाभ को ध्यान में रखकर वे अपने कष्ट की परवाह न करेंगे।

सन् १९४०]

हिन्दू-संघ और मुस्लिम-संघ

पाठकों ने, मुझे विश्वास है, पाकिस्तान का नाम अवश्य सुना होगा। पाकिस्तान का अर्थ है पवित्र स्थान। लेकिन इस समय इसका प्रयोग एक विशेष अर्थ में होता है। भारतीय राजनीति में इसका अर्थ है भारत का वह खण्ड जिस पर मुसलमानों का, बहुसंख्यक होने के कारण, राज्य हो। इसी को, वे पाकिस्तान कहते हैं। हिन्दुस्तान के कुछ मुसलमानों ने पाकिस्तान की आवाज़ को कई बरसों से उठा रक्खा है। कहते हैं कि पंजाब के प्रसिद्ध कवि, दार्शनिक और राजनीतिक नेता सर मुहम्मद इकबाल ने इस योजना को जन्म दिया था। इधर मुस्लिम लीग ने जब से ज़ोर पकड़ा, तब से पाकिस्तान की चर्चा ने भी ज़ोर पकड़ा है। लीगी दोस्तों का कहना है कि इस देश के मुसलमानों की अल्प-संख्यकों में गणना न होनी चाहिए। वे तो हिन्दुस्तान में पृथक् और स्वतन्त्र 'नेशन' हैं, उसी तरह जिस तरह जर्मनी में जर्मन नेशन है और इँगलिस्तान में में इँगलिश नेशन है। हिन्दुस्तान में, उनका मत है, दो नेशनें हैं—एक हिन्दू और दूसरी मुस्लिम। ऐसी दशा में, उनका कहना है, मुस्लिम नेशन किसी ऐसे राष्ट्र का अंग नहीं बनेगी, जिसमें उसको अल्प-संख्यक होने के कारण बहु-संख्यकों का ग़ुलाम बनना पड़े। हिन्दुस्तान अगर एक नेशन मान लिया गया, तो उसमें संख्या की दृष्टि से मुसलमानों को तो एक अल्प-संख्यक समुदाय ही का पद ग्रहण करना और बहु-संख्यक हिन्दुओं की अधीनता में जन्म काटना पड़ेगा। हिन्द के मुसलमानों को इसी कल्पित खतरे से बचाने की गरज़ से एक स्वतन्त्र मुस्लिम नेशन की गढ़न की गई है। इसीलिए इस कथित मुसलमान नेशन की रक्षा के लिए यह ज़रूरी है कि हिन्दुस्तान दो भागों में विभक्त किया जाय। एक भाग में

हिन्दुओं का राज्य होगा और दूसरे में हिन्दुस्तानी मुसलमानों का एक अलग संघ बनेगा। यदि सम्भव हो तो उसमें एशिया, योरप और अफ्रीका के मित्र मुसलमान राष्ट्र भी सम्मिलित कर लिये जायँगे। इस लेख में हिन्दुस्तान के इस साम्प्रदायिक बँटवारे के एकाध पहलू पर हम विचार करेंगे। आइए देखें, यदि मुसलमानों की यह माँग मंजूर कर ली जाय और हिन्दुस्तान में हिन्दुस्तानी संघ के स्थान में हिन्दू और मुस्लिम संघों के क्रम से दो स्वतन्त्र संघों की स्थापना की जाय तो इन दो संघों में क्रमशः देश के दो प्रमुख सम्प्रदायवालों का किस तरह बँटवारा होगा और भारतवर्ष के नक़शे का उस समय क्या रूप हो जायगा।

यहाँ पर प्रश्न उठेगा और उसका उठना स्वाभाविक है कि किस सिद्धांत के आधार पर इस तरह के दो साम्प्रदायिक संघों में देश का बँटवारा किया जा सकता है। मेरी राय में एक ही सिद्धान्त मान्य हो सकता है, अर्थात् जिन-जिन भाग-विशेषों में मुस्लिम बहुमत हो, उन-उन प्रदेशों को मुस्लिम-संघ में शामिल करना चाहिए, और जिन-जिन प्रदेशों में हिन्दुओं की या हिन्दुओं और सिक्खों की बहु-संख्या निकले उन्हें हिन्दू-संघ का अंग मानना पड़ेगा। दो संघों की योजना इसी बुनियादी उसूल पर खड़ी की गई है कि जहाँ पर हिन्दू बहुसंख्यक हैं, वहाँ पर मुस्लिम अल्पसंख्यकों के हितों और स्वत्वों की रक्षा सम्भव नहीं है। जो यह कहते हैं उन्हें यह भी स्वीकार करना पड़ेगा कि संघ के रूप में जो संरक्षण वे अपने लिए चाहते हैं, उन्हीं के से संरक्षण मुस्लिम-प्रधान प्रान्तों और रियासतों में बसे हुए हिन्दुओं को भी मिलने चाहिए। साथ ही, बँटवारे में इस बात का भी ध्यान रखना उचित है कि विभाजन इस तरह से हो कि जहाँ तक सम्भव हो सके, वहाँ तक दोनों ही संघों की सीमायें अविच्छिन्न रहें। छोटे-छोटे अनेक टुकड़ों में देश नहीं बँट सकता। संघों के स्थापन और संरक्षण तथा उनकी प्रगति के लिए समान सत्ताओं का होना आवश्यक है। अगर ऐसा न होगा तो भारतवर्ष एक साथ अंट संट टँके हुए, छोटे-मोटे टुकड़ों की एक बदनुमा गुदड़ी बन जायगा।

बहुमत की कसौटी क्या होगी? मैंने इस लेख में जिस कसौटी को लेकर मुस्लिम और हिन्दू संघों में भारत के बँटवारे की कल्पना की है, वह यह कि जहाँ की आबादी में मुसलमानों की संख्या ५० प्रतिशत से अधिक है, उसे मैंने

मुस्लिम-संघ का अंग मान लिया है, और जहाँ की आबादी में इनकी संख्या ५० से कम है, उसे मैंने हिन्दू-संघ में शरीक कर दिया है। तुलना के लिए मैंने पंजाब को छोड़कर दूसरे प्रान्तों में सिर्फ़ हिन्दुओं और मुस्लिम आबादियों ही को लिया है। पंजाब में हिन्दू और सिक्खों को मिलाकर रक्खा है जैसा पाठक आगे देखेंगे, मुस्लिम-संघ के पश्चिमी और पूर्वी भागों में सम्मिलित होनेवाले टुकड़ों के बीच में सिर्फ़ एक को छोड़कर कोई हिन्दू-प्रधान प्रदेश नहीं पड़ता। इसी तरह कोई मुस्लिम-प्रधान प्रदेश, एक को छोड़कर, हिन्दू-संघ के क्षेत्रफल में नहीं आता। अपवाद है पंजाब की कपूरथला और पूर्वी बंगाल की त्रिपुरा रियासतें। कपूरथला में मुस्लिम बहुमत है, लेकिन चारों ओर से वह अमुस्लिम क्षेत्र से घिरा हुआ है। इसी तरह पूर्वी बंगाल में त्रिपुरा हिन्दू-प्रधान होते हुए भी मुस्लिम क्षेत्र के मध्य में स्थित है। इन दो प्रदेशों को छोडकर, मुस्लिम-प्रधान और हिन्दू-प्रधान संघों में उसी सम्प्रदाय के लोगों की सर्वत्र प्रधानता है जिस सम्प्रदायवालों का वह संघ है। पूर्व में मुस्लिम बंगाल और सिलहट मिलकर एक समूचा खंड होगा, जहाँ मुसलमानों की प्रधानता है। पश्चिम में सिंध, सीमा-प्रान्त, बलोचिस्तान और (जम्मू को छोड़कर) काश्मीर मिलकर एक समूचा खंड बनाते हैं, जहाँ पर मुस्लिमों की आबादी बहुसंख्यक है। जम्मू, पूर्वीय पंजाब, पश्चिमी बंगाल, दार्जिलिङ्ग और जलपाईगुड़ी आसानी से काश्मीर, पंजाब और बङ्गाल से अलग किये जा सकते हैं। ऐसा करने में न तो भौगोलिक, न साम्पत्तिक और न शासन-सम्बन्धी कोई अड़चन पड़ सकती है।

मेरी स्थिति साफ़ है। मैं साम्प्रदायिक दृष्टि से भारत के भाग्य के निबटारे की कल्पना भी करना राष्ट्रीयता के प्रति जघन्य पाप समझता हूँ। मेरे लिए भारत अखण्ड है, अखण्ड रहेगा। लेकिन जो लोग फ़िरक़ेवाराना चश्मे लगाकर भारतीय समस्याओं का अध्ययन करते हैं, उन्हें उसके प्रतिफलों को समझाने की गरज़ से मैंने यह लेख लिखा है। उन्हीं की दलीलों को सही मानकर मैंने दोनों संघों के चित्रों का अंकन करना उचित समझा। इससे यह न समझना चाहिए कि मैं उनके कथनों या तर्कों या परिश्रमों से प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से सहमत हूँ या उनके साथ मुझे किसी भी तरह की सहानुभूति है।

(२)

इसके पहले कि इस विषय का विवेचन मैं करूँ, पाठकों की सुविधा के लिए यह आवश्यक मालूम होता है कि भारतवर्ष के भौगोलिक चित्र के विषय में एक दो आवश्यक बातों का ज़िक्र कर दिया जाय। भारतवर्ष की बाहरी सीमा पर ध्यान दीजिए। उसके उत्तर-पश्चिम में अफ़ग़ानिस्तान और ईरान है; उत्तर में चीनी तुर्किस्तान, तिब्बत, नैपाल, भूटान और चीन हैं; पूर्व में बर्मा और श्याम हैं। दक्षिण में लंका का द्वीप है, जो भौगोलिक दृष्टि से भारतवर्ष ही का एक अंग है, लेकिन इस समय वह भारत से जुदा इँगलैंड का एक उपनिवेश माना जाता है। अफ़ग़ानिस्तान और हिन्दुस्तान के बीच में कबीलों का प्रदेश है जो स्वतन्त्र है, लेकिन जिसके साथ भारतीय सरकार का सम्बन्ध है। कबीलों के निवासी मुसलमान हैं और सभ्यता या संस्कृति की दृष्टि से इनकी बहुत पिछड़ी हुई दशा समझी जाती है। लूट-मार करना इनका पेशा है। भारतवर्ष और बर्मा का कुल क्षेत्रफल १८ लाख वर्गमील है और १९३१ की मनुष्य-गणना के अनुसार आबादी ३५ करोड़ २८ लाख थी। वह १८८१ में २५ करोड़ ३६ लाख, १८९१ में २८ करोड़ ७३ लाख, १९०१ में २९ करोड़ ४४ लाख, १९११ में ३१ करोड़ ५२ लाख और १९२१ में ३१ करोड़ ८९ लाख थी। १८८१ से १९३१ तक की ५० वर्ष की अवधि में भारतवर्ष की आबादी में लगभग १० करोड़ की बढ़ती हुई। १९३७ में बर्मा हिन्दुस्तान से अलग कर दिया गया। इँगलैंड से अब उसका सीधा सम्बन्ध है। इसलिए बर्मा को छोड़कर भारत के क्षेत्रफल को १८ लाख के बजाय १५ लाख ७६ हज़ार वर्गमील और उसकी जनसंख्या को ३५ करोड़ के स्थान पर ३३ करोड़ ८२ लाख मानना चाहिए। इसी स्थान पर भारत की सीमा पर स्थित अन्य देशों के रकबों और आबादियों का भी उल्लेख कर देना अनुचित न होगा। अफ़ग़ानिस्तान का रकबा २५,००० वर्गमील है, जिसमें ७० लाख स्त्री पुरुष १९३१ में बसते थे। नैपाल के राज्य का विस्तार ५४ हज़ार वर्गमील है और आबादी ५६ लाख है। भूटान के राज्य का क्षेत्रफल २० हज़ार वर्गमील है और जनसंख्या ढाई लाख है। भारत के क्षेत्रफलों और आबादियों के साथ दूसरे देशों के रकबों और आबादियों की तुलना कर लीजिए। अमेरिका के संयुक्त राज्य का रकबा ३१ लाख वर्गमील से अधिक है, लेकिन उसकी कुल

आबादी १४ करोड़ से कुछ कम है। फ्रांस का रक़बा २ लाख १३ हज़ार वर्गमील है, लेकिन उसकी आबादी चार करोड़ से कुछ ही ऊपर है। इँगलैंड और वेल्स का रक़बा ६८ हज़ार वर्गमील है और आबादी चार करोड़ है। चीन का विस्तार लगभग ४३ लाख वर्गमील है और उसकी जनसंख्या ४५ करोड़ है। विस्तार की दृष्टि से संसार के देशों में भारतवर्ष का तीसरा नम्बर है और आबादी के लिहाज़ से उसका द्वितीय पद है। कुछ का कहना है कि जन-संख्या में भारत संसार के सब देशों का अगुआ है।

(३)

इन प्रारम्भिक शब्दों के बाद, आइए, अब हिन्दुस्तान के वर्तमान राजनीतिक विभाजनों पर भी एक नज़र डाल लें। जिस प्रदेश को हम भारतवर्ष कहते हैं, वह राजनीतिक दृष्टि से तीन खण्डों में विभक्त है। एक तो वह खण्ड है जिसे ब्रिटश इंडिया कहते हैं, अर्थात् जिस पर ब्रिटेन की खुल्लम-खुल्ला अमलदारी है। इस भाग में १३ प्रान्त हैं। इन प्रान्तों के नाम हैं – (१) आसाम, (२) बंगाल, (३) बिहार, (४) बम्बई, (५) मदरास, (६) मध्यप्रान्त और बरार, (७) सीमाप्रान्त, (८) उड़ीसा, (६) पंजाब, (१०) सिन्ध और (११) संयुक्तप्रान्त। इनके अतिरिक्त अजमेर-देहली और बिलोचिस्तान नामक दो और छोटे से प्रान्त हैं, जहाँ का शासनाधिकार, गवर्नरों के बजाय, चीफ़ कमिश्नर नामक प्रधान पदाधिकारियों के हाथ में है। दूसरे खण्ड में देशी रियासतें शामिल हैं। इनकी संख्या ५०० और ६०० के बीच में है। इन देशी रियासतों का ब्रिटेन के सिंहासन के साथ सीधा सम्बन्ध है और घरेलू शासन में इनको नाममात्र की स्वतंत्रता से लेकर प्रायः पूर्ण आज़ादी तक प्राप्त है, परन्तु वैदेशिक युद्ध-सम्बन्धी मामलों में ये ब्रिटेन के पूर्णतः अधीन हैं। तीसरे खण्ड में उन प्रदेशों की गणना है, जिनमें स्वतंत्र क़बीले रहते हैं। तीनों खण्डों के विस्तार और उनकी जन-संख्याओं पर एक नज़र डालिए। ब्रिटिश इंडिया का विस्तार ८ लाख १८ हज़ार वर्गमील और इसकी जन-संख्या २५ करोड़ ३५ लाख है। देशी रजवाड़ों का क्षेत्रफल लगभग सात लाख वर्गमील है, लेकिन उनके निवासियों की संख्या केवल ७ करोड़ ६१ लाख है। कबीलों का प्रदेश भारत के तीनों खंडों में सबसे छोटा है। वहाँ ६८ हज़ार वर्गमील में लगभग २६ लाख प्राणी बसते हैं।

प्रत्येक खंड के आँकड़ों पर यदि पाठक ग़ौर करेंगे तो उनको मालूम होगा कि सारे भारत के प्रत्येक ५० व्यक्तियों में से ४० व्यक्ति चार प्रान्तों में और १० व्यक्ति देशी रियासतों में आबाद हैं। विस्तार में यदि रियासतें ब्रिटिश भारत से कुछ ही कम हैं तो आबादी में दूसरा पहले से तिगुना बडा है।

अब हिन्दू और मुस्लिम संघों में भारत के बँटवारे की समस्या की ओर मुड़ आइए। पहले प्रान्तों को लीजिए। उन्हें दो श्रेणियों में आसानी से हम विभक्त कर सकते हैं। पहली श्रेणी में उन प्रान्तों की गणना होगी, जिनमें हिंदुओं की अपेक्षा मुसलमानों की संख्या अधिक है, और दूसरी श्रेणी में वे प्रान्त शामिल होंगे, जिनमें मुसलमानों की तुलना में हिन्दुओं की संख्या अधिक है। १३ में से ५ प्रान्त अर्थात्—(१) बंगाल, (२) पंजाब, (३) सीमप्रान्त, (४) सिन्ध और (५) बिलोचिस्तान ऐसे हैं, जहाँ मुसलमानों की बहुत अधिक आबादी है। बाक़ी आठ प्रान्तों में मुसलमान अल्पसंख्यक हैं। पहले पाँच प्रान्तों में कितने हिन्दू और कितने मुसलमान हैं, इसका ब्योरा आगे के कोष्ठक से पाठकों को ज्ञात हो जायगा—

संख्याएँ लाख में

(१)[1]

प्रान्त का नाम	हिन्दू	मुसलमान
बंगाल	२ करोड़ १६ लाख	२ करोड़ ७५ लाख
पंजाब	६३ लाख	१ करोड़ ३३ लाख
सीमाप्रान्त	१ लाख ४३ हज़ार	२२ लाख
सिन्ध	१० लाख ७७ हज़ार	२८ लाख ३१ हज़ार
बिलोचिस्तान	६ हज़ार	३ लाख २५ हज़ार

ऊपर के आँकड़े पूर्णाङ्कों में हैं। बंगाल में हिन्दू ४३०, सिन्ध में २६०, पंजाब में हिन्दू, सिक्ख ४००, सीमाप्रान्त में हिन्दू और सिक्ख मिलाकर ६० प्रति हज़ार हैं। बिलोचिस्तान में प्रायः उनकी संख्या नगण्य है।

इन पाँच प्रान्तों को छोड़कर शेष प्रान्तों की हिन्दुओं और मुसलमानों की आबादियाँ निम्नलिखित हैं—

(२)

प्रान्त	हिन्दू	मुसलमान
आसाम	४६ लाख	२७॥ लाख
विहार	२ करोड़ ५६ लाख	४१ लाख
वम्बई	१ करोड़ ५६ लाख	१६ लाख
मध्यप्रान्त	१ करोड़ ३२ लाख	७ लाख
मदरास	४ करोड़	३३ लाख
उड़ीसा	६५ लाख	१ लाख २६ हज़ार
युक्तप्रान्त	४ करोड़ १० लाख	७२ लाख
अजमेर	...	...
देहली-प्रांत	१० लाख	सवा ३ लाख

ऊपर के कोष्ठक में जो संख्याएँ दी गई हैं उन्हें प्रतिशत के रूप में हम दोहरा देना चाहते हैं। आवादी के प्रतिहज़ार में मुसलमान आसाम में ३३०, विहार में १२०, वम्बई में ६०, मध्यप्रान्त में ४५, मदरास में ७०, उड़ीसा में १६, युक्तप्रान्त में १५ और अजमेर-देहली में २३ हैं। उड़ीसा में मुसलमान प्रायः उसी तरह नगण्य हैं जिस तरह हिन्दू विलोचिस्तान में हैं। मदरास में उनकी स्थिति सीमाप्रान्त के हिन्दुओं और सिक्खों की है। मध्यप्रान्त में उनकी संख्या उतनी भी नहीं जितनी सीमाप्रान्त में हिन्दू-सिक्खों की तादाद है। विहार और युक्तप्रान्त में वे क्रमशः १२८ और १५६ हैं। इससे यह बात स्पष्ट है कि आवादी के लिहाज़ से, न तो विहार और न युक्तप्रान्त में और न अन्य छः प्रान्तों में मुसलमानों की वह स्थिति है, जो बंगाल, पंजाब और सिन्ध में हिंदुओं और सिक्खों की है, जहाँ वे क्रमशः ४०, ३३ और २६ प्रतिशत हैं।

(४)

ब्रिटिश प्रान्तों को छोड़कर देशी रियासतों की ओर आइए। हिन्दुस्तान की सब रियासतों में सिर्फ़ ६ ऐसी रियासतें हैं, जहाँ की आवादी में मुसलमानों की संख्या ५१ या उससे अधिक प्रतिशत होगी, बाक़ी सब रियासतों में हिन्दुओं का प्रवल बहुमत है। पूर्व-कथित मुस्लिम रियासतों के नाम हैं—(१) काश्मीर

और जम्मू, (२) कपूरथला, (३) बहावलपुर, (४) ख़ैरपुर, (५) लासबेला और (६) केलात। पहली दो रियासतें, केलात और लासबेला बिलोचिस्तान में हैं। ख़ैरपुर सिन्ध में स्थित है। काश्मीर और जम्मू की रियासतें पंजाब के उत्तर में हैं। कपूरथला पंजाब की एक रियासत है। बहावलपुर पंजाब के दक्षिण में है। काश्मीर और कपूरथला के शासक क्रमशः हिन्दू और सिक्ख हैं। बाक़ी चार रियासतों के शासक मुसलमान हैं।

इन ६ रियासतों को छोड़कर हिन्दुस्तान में बाक़ी जितनी रियासतें हैं उनके शासक चाहे हिन्दू हों या मुसलमान, उनमें से प्रत्येक मुसलमान अत्यल्प संख्यक हैं। ऐसी रियासतों में हैदराबाद, ट्रावनकोर, बड़ौदा, ग्वालियर, पटियाला, बीकानेर, मैसूर, इन्दौर, भूपाल, रामपुर और टोंक आदि सब रियासतें शामिल हैं। पहले मुस्लिम-प्रधान रियासतों को ले लीजिए। इन रियासतों के क्षेत्रफल और जन-संख्याएँ निम्न-लिखित हैं, जो कोष्ठक नंबर ३ और ४ में क्रमशः दी जाती हैं :—

मुस्लिम-प्रधान रियासतें

क्षेत्रफल और कुल आबादी

(३)

नाम	वर्गमील	आबादी
कपूरथला	५६८	३,१७,०००
लासबेला	७,०००	६३,०००
कलात	७३,०००	३,४२,०००
बहावलपुर	१५,०००	६,८५,०००
ख़ैरपुर	६,०००	२,२७,०००
काश्मीर	८५,०००	३६,४६,०००
कुलजोड़	१,८६,०००	५५,८०,०००

मुस्लिम-प्रधान रियासतें

आबादी

(४)

नाम रियासत		हिन्दू	मुसलमान
कपूरथला	...	५४,०००	१,७६,०००
लासबेला	...	७,०००	६२,०००
कलात	...	११,०००	३,३१,०००
बहावलपुर	...	१,४५,०००	८,००,०००
ख़ैरपुर	...	४०,०००	१,८७,०००
काश्मीर	...	७,३७,०००	२८,१७,०००
कुल जोड़	...	६,८८,०००	४३,७५,०००

ऊपर की ६ रियासतों में काश्मीर के साथ हमने जम्मू का हिन्दू-प्रधान भाग भी शामिल कर लिया है। इसे यहाँ शामिल करना ठीक है या नहीं, इस प्रश्न पर हम आगे चलकर विचार करेंगे। यहाँ उसे भी मुस्लिम-प्रधान रियासतों ही का अंग मानकर हम नक़्शे की रूप-रेखा का वर्णन करना उचित समझते हैं। हाँ, तो कुल देशी रियासतों का रक़बा ७ लाख है। उसके क्षेत्रफल से यदि हम ६ मुस्लिम-प्रधान रियासतों के रक़बे को घटा दें, तो शेष हिन्दू-प्रधान रियासतों का रक़बा लगभग ५ लाख वर्गमील निकलेगा, अर्थात् मुस्लिम-संघ में देशी रियासतों का लगभग एक-चौथाई हिस्सा आ जायगा। कुल रजवाड़ों की आबादी, जैसा हम ऊपर कह चुके हैं, ७ करोड़ ६१ लाख है, जिसमें ६ करोड़ १५ लाख हिन्दू और १ करोड़ ६ लाख मुसलमान हैं। यदि रजवाड़ों का मुसलमान-प्रधान और हिन्दू-प्रधान रियासतों में विभाजन हुआ, तो पहली श्रेणी की रियासतों में ३ लाख २१ हज़ार हिन्दू और ३० लाख ३६ हज़ार मुसलमान प्रजा होगी। अर्थात् भारत के कुल रियासती हिन्दुओं में से ५ सैकड़ा हिन्दू और कुल रियासती मुस्लिम के ३० सैकड़ा मुसलमान मुस्लिम-संघ में जायँगे। इसके विपरीत भारतवर्ष की रियासतों के ६५ फ़ी सदी हिन्दू और

७० फ़ी सदी मुसलमान हिन्दू-संघ में रह जायँगे। यह बात विचारणीय है कि मुस्लिम-संघ की योजना से रियासतों में रहनेवाले ७० फ़ी सदी मुसलमानों को तो कोई लाभ नहीं पहुँच सकता, क्योंकि वे उस समय भी हिन्दू-संघ के अन्तर्गत होने के कारण अन्य मतावलम्बियों के शासन के नीचे जीवन-निर्वाह के लिए बाध्य होंगे। आर्थिक, सामाजिक या सांस्कृतिक दृष्टि से तो न ७० फ़ी सदी मुसलमानों की वैसी ही हालत तब बनी रहेगी जैसी वह आज है। हाँ, यह होगा कि हैदराबाद, भूपाल और रामपुर आदि मुस्लिम-शासित किन्तु हिन्दू-प्रधान रियासतों में हिन्दू जनता को उस समय अधिक से अधिक स्वतन्त्रता मिल जाय और उनकी मुसलमान रियाया को जो इस समय विशेषाधिकार प्राप्त हैं, उनका अन्त हो जायगा। कहा जाता है कि मुस्लिम-संघ का ध्येय है, हिन्दुस्तान के मुसलमानों के हितों की रक्षा करना और एक ऐसे संघ-राष्ट्र का निर्माण करना जिसके द्वारा हिन्दुस्तान की अधिकांश मुसलमान जनता सुख से अपना जीवन-निर्वाह कर सके, और कर सके आज़ादी के साथ विविध दिशाओं में अपनी उन्नति का प्रयत्न। लेकिन ऊपर के आँकड़ों से तो यह बात साफ़ ज़ाहिर है कि देशी रियासतों के ७० फ़ी सदी मुसलमानों की दशा जैसी अब है, वैसी ही तब भी बनी रहेगी जब मुस्लिम-संघ की स्थापना भी हो जायगी। कपूरथला और काश्मीर की रियासतें अवश्यमेव मुस्लिम-संघ में आ जायँगी। लेकिन हैदराबाद, भूपाल और रामपुर आदि अनेक मुसलमानी रियासतों का क्या हाल होगा? वे तो मुस्लिम-संघ में किसी तरह से नहीं शामिल हो सकतीं, क्योंकि वहाँ पर हिन्दुओं का बहुमत है। यदि बहुमत के आधार पर हिन्दुस्तान के दो टुकड़े करना है, तो फिर रियासतों की ७० प्रतिशत मुसलमान प्रजा को या तो मजबूरन हिन्दू-संघ के शासन में रहना होगा या मुस्लिम-संघ में बसने की ग़रज़ से हिन्दू-प्रधान रियासतों से हिजरत करनी पड़ेगी। मुस्लिम-संघ की योजना बनानेवालों को चाहिए कि वे पहले हैदराबाद के निज़ाम या भूपाल और रामपुर के नवाबों से जाकर पूछें कि क्या वे हिन्दुस्तान के साम्प्रदायिक बँटवारे का समर्थन करने के लिए तैयार हैं? क्या वे और उनकी बिरादरी के दूसरे शासक कभी यह स्वीकार करेंगे कि पाकिस्तानी पतंग को उड़ानेवाले दोस्तों को महज़ ख़ुश करने के लिए वे हिन्दू-संघ के अधीन हो जायँ? जहाँ तक देशी रियासतों का सम्बन्ध है, वहाँ

तक यह स्पष्ट है कि मुस्लिम-संघ की योजना के द्वारा मुसलमानों के विशेषाधिकारों को कहीं अधिक धक्का पहुँचने की सम्भावना है और सम्भावना है इसकी भी कि हिन्दुओं को क्षति पहुँचने के बजाय आज से भी अधिक शक्ति उन्हें मिल जाय और शासन में भी उन्हें वे अधिकार प्राप्त हो जायँ जिनसे वे सदियों से वञ्चित हैं।

(५)

काश्मीर को मुस्लिम-प्रधान रियासत मानकर हमने ऊपर विचार किया है। लेकिन जम्मू भी काश्मीर का एक अंग है। इसमें हिन्दुओं का बहुमत है। यह प्रान्त भी साम्प्रदायिक दृष्टि से दो भागों में स्वतः विभक्त है। पश्चिमी भाग में, जिसमें पूँच, रियासी और मीरपुर के इलाक़े हैं, मुस्लिम-प्रधान हैं; लेकिन पूर्वी भाग में हिन्दुओं का बहुमत स्पष्ट है। इसमें जम्मू ख़ास, ऊधमपुर, भद्रवार, कैथुआ और चेननी के इलाक़े हैं। काश्मीर की रियासत के ये दो भाग एक-दूसरे से बहुत विभिन्न हैं। काश्मीर-जम्मू का सम्मिलित क्षेत्रफल ८५,००० वर्गमील से कुछ अधिक है। और पूर्वी जम्मू का विस्तार-क्षेत्र है ७ हज़ार वर्गमील के ऊपर। काश्मीर और जम्मू की सम्मिलित रियासतों में हिन्दुओं की आबादी ७ लाख ३६ हज़ार और मुसलमानों की संख्या २८ लाख १७ हज़ार है। काश्मीर-प्रान्त में ६५ फ़ी सदी मुसलमान हैं, लेकिन पूर्वी जम्मू में प्रत्येक ७० मुसलमान पीछे १०० हिन्दू हैं। ऐसी दशा में इस प्रश्न का उठना स्वाभाविक है कि क्या पूर्वी जम्मू काश्मीर की रियासत के साथ-साथ मुस्लिम-संघ में शामिल किया जाय या न शामिल किया जाय; और यदि न किया जाय तो क्यों; और यदि किया जाय तो क्यों? मुस्लिम-संघ की योजना के आधार-स्तम्भों ही का यह सिद्धान्त है कि जिस प्रान्त में मुसलमानों का मताधिक्य हो, उसे मुस्लिम-संघ में मिला देना चाहिए; क्योंकि बहुसंख्यकों के ऊपर अल्पसंख्यकों का शासन करना बहुसंख्यकों के साथ अन्याय करना है। ऐसी दशा में पूर्वी जम्मू के हिन्दू यह कह सकते हैं कि वे मुस्लिम-संघ में जाना पसन्द नहीं करते। जो एतराज काश्मीर के मुसलमानों को हिन्दू शासन के ख़िलाफ़ हो सकता है, तो यह मानना पड़ेगा कि वही एतराज पूर्वी जम्मू के बहुसंख्यक हिन्दुओं को

मुसलमानी शासन के प्रतिकूल होगा। यदि न हो तो अचरज की बात होगी। पूर्वी जम्मू के रहनेवालों को आत्म-निर्णय का उसी तरह अधिकार मिलना चाहिए, जिस तरह काश्मीर के मुसलमानों को आत्म-निर्णय का अधिकार मुस्लिम-संघ में सम्मिलित होने से प्राप्त हो जायगा। क्या पाकिस्तानवालों ने पूर्वी जम्मू की समस्या पर विचार किया है? अगर किया है तो उन्हें चाहिए कि वे अपने निर्णय को दलीलों के साथ प्रकाशित करने का अनुग्रह करें। उन्हें चैकोस्लोवाकिया के सुडेटैनलैंड की चेतावनी को न भूलना चाहिए। पूर्वी जम्मू कोई क़स्बा नहीं, कोई छोटा या बड़ा शहर नहीं। वह तो विस्तार में कपूरथला से ११ गुना बड़ा है और आबादी में कपूरथला, लासोबेला, केलात और ख़ैरपुर मिलकर भी उसका मुक़ाबिला नहीं कर सकते। यदि कपूरथला मुस्लिम-संघ के शासन में शरीक़ किया जाता है, क्योंकि वहाँ मुसलमानों की आबादी बहुसंख्यक है, तो कोई वजह नज़र नहीं आती कि पूर्वी जम्मू के साथ भी वैसा ही बर्ताव क्यों न किया जाय। मुस्लिम-संघ के समर्थन में सांस्कृतिक और धार्मिक संरक्षण की दोहाई दी जाती है। इसी उसूल पर जम्मू को पृथक् करने का भी समर्थन किया जा सकता है।

(६)

छः रियासतों और उनके साथ पूर्वी जम्मू के मसलों को यहीं पर छोड़कर अब आइए प्रान्तों की ओर बढ़ चलें।

ऊपर हम बता चुके हैं कि अजमेर-देहली और बिलोचिस्तान की चीफ़ कमिश्नरियों को लेकर भारत में कुल १३ प्रान्त ऐसे हैं जो ब्रिटिश अमलदारी के अंग कहे जाते हैं। इनमें से ११ प्रान्तों का शासन सन् १६३५ के गवर्नमेंट आफ़ इण्डिया एक्ट में निर्धारित विधान के अनुसार है। बिलोचिस्तान और अजमेर-देहली में अभी तक शासन के सब अधिकार और कुल उत्तरदायित्व वहाँ के चीफ़ कमिश्नरों के हाथों में केन्द्रित हैं। इन १३ प्रान्तों में से, हम बता चुके हैं कि सिर्फ़ पाँच प्रान्तों में मुसलमानों का बहुमत है। इन पाँच में से तीन प्रान्तों—सिन्ध, सीमाप्रान्त और बिलोचिस्तान—में मुसलमानों का न केवल मताधिक्य है; किन्तु वहाँ पर आबादी का वितरण भी इस तरह से है कि कहीं पर अल्पसंख्यकों का बहुमत न मिलेगा। लेकिन पाँच मुस्लिम-प्रधान

प्रान्तों में दो प्रान्तों—पंजाब और बङ्गाल की दशा इस मामले में सिन्ध, सीमा-प्रान्त और बिलोचिस्तान से भिन्न है। इन दो प्रान्तों में दोनों सम्प्रदायों का वितरण इस ढङ्ग से हुआ है कि प्रान्त के भिन्न-भिन्न भागों में भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों का बहुमत हमें मिलता है। उदाहरण के लिए, यदि पञ्जाब के पश्चिमी हिस्से में मुसलमानों का बहुमत है, तो उसके पूर्वी भाग में हिन्दू और सिक्खों का बहुमत है। इसी तरह पूर्वी बङ्गाल में यदि मुसलमानों का बहुमत है, तो पश्चिमी बङ्गाल में हिन्दुओं का बहुमत है और वहाँ मुसलमान अल्प-संख्यक हैं।

पहले पंजाब को लीजिए। पंजाब में कुल मिलाकर २३ ज़िले हैं, जिनमें १२ ज़िले ऐसे हैं जिनमें मुसलमानों की संख्या ५१ प्रतिशत से कम है। नीचे के कोष्ठक में हम उन ज़िलों की नामावली और प्रत्येक में प्रत्येक १ हज़ार पीछे, मुसलमानों की संख्या दे रहे हैं :—

आबादी में प्रतिहज़ार पीछे

(५)

ज़िले	मुसलमान
हिसार	२८२
रोहतक	१७१
गुरगाँव	३२७
कर्नाल	३०५
अम्बाला	३११
शिमला	१५८
काँगडा	५०
होशियारपुर	३१८
जालन्धर	४४५
लुधियाना	३५०
फ़िरोज़पुर	४४६
अमृतसर	४७०

इन बारह ज़िलों के अतिरिक्त एक और ज़िला है गुरदासपुर का, जिसमें मुसलमानों की संख्या कुल आबादी के ५० सैकड़ा से कुछ ही ऊपर बैठती है। लेकिन चूँकि इस ज़िले में मुसलमानों का बहुमत है—वह कितना ही स्वल्प क्यों न हो—हम उसे अलग छोड़ते हैं। देशी रियासतों को छोड़कर पंजाब प्रान्त के समस्त भू-भाग का रक़बा ६६ हज़ार वर्गमील और आबादी २ करोड़ ३६ लाख है, जिसमें से ६३ लाख हिंदू, एक करोड़ ३३ लाख मुसलमान और ३१ लाख सिक्ख हैं। यानी कुल आबादी में हिन्दू २७ सैकड़ा, सिक्ख १३ सैकड़ा और मुसलमान ५७ सैकड़ा हैं। ऊपर के १२ ज़िलों के आँकड़ों को देखिए। अमृतसर लाहौर कमिश्नरी में है, बाक़ी ११ ज़िलों में से पहले ६ अम्बाला कमिश्नरी में और पिछले पाँच ज़िले जालन्धर कमिश्नरी में शामिल हैं। इन १२ ज़िलों की कुल आबादी ६८ लाख है, जिसमें २६ लाख मुसलमान, १८ लाख सिक्ख और ४४ लाख हिन्दू हैं। इन बारह ज़िलों में हिन्दुओं के अतिरिक्त सिक्खों की भी काफ़ी आबादी है। ६८ लाख में से २६ लाख मुसलमानों को निकाल दें, तो हिन्दू और सिक्ख मिलाकर इन ज़िलों में ६२ लाख हैं। अतएव इन बारह ज़िलों को आप किसी तरह से मुस्लिम-संघ में शामिल नहीं कर सकते। अतएव पंजाब के २३ ज़िलों में से १२ ज़िले हिन्दू-संघ में निकल जायँगे और केवल ११ ज़िले मुस्लिम-संघ में जायँगे। पंजाब दो टुकड़ों, मुस्लिम पंजाब और हिन्दू पंजाब में बँट जायगा। पाकिस्तान के हिमायतियों के हाथ पूरा पंजाब भी न आयेगा। उन्हें तो २३ ज़िलों में से सिर्फ़ ११ ही ज़िलों से अपनी साम्प्रदायिक भूख बुझाने की चेष्टा करनी पड़ेगी। मुझे मालूम है कि पाकिस्तान के नक़शे में समूचा पंजाब शामिल कर लिया गया है। (नक़शे में पूरा पंजाब शामिल करने से तो काम न चलेगा। बँटवारा तो किसी उसूल ही पर होगा। वह उसूल साम्प्रदायिक बहुमत ही का उसूल हो सकता है।) पंजाब के ये १२ ज़िले आसानी से उस प्रान्त से जुदा किये जा सकते हैं।

अब बंगाल को लीजिए। बङ्गाल में बर्दवान और प्रेसीडेन्सी कमिश्नरियों में हिन्दुओं का बहुमत है। इन दोनों कमिश्नरियों में से प्रत्येक कमिश्नरी में ६-६ ज़िले हैं। इनके अलावा जलपाइगुडी, दार्जिलिंग और चटगाँव हिल्स में

भी हिन्दुओं का मताधिक्य है। पाठकों की सुविधा के लिए हम बङ्गाल की उपर्युक्त दोनों कमिश्नरियों के ज़िलों के नाम नीचे दे रहे हैं—

(अ) बर्दवान कमिश्नरी में—

(१) बर्दवान, (२) बीरभूमि, (३) बाँकुडा, (४) मिदनापुर, (५) हुगली और (६) हावड़ा शामिल हैं।

(ब) प्रेसीडेन्सी कमिश्नरी के अन्तर्गत—

(१) २४ परगना, (२) कलकत्ता, (३) नदिया, (४) मुर्शिदाबाद, (५) जैसोर और (६) खुलना के ज़िले हैं।

इन बारह ज़िलों में कुल मिलाकर १ करोड़ २३ लाख हिन्दू और ६० लाख मुसलमान हैं। यद्यपि कुल बङ्गाल की आबादी में हिन्दू केवल ४३ और मुसलमान ५५ फ़ी सदी हैं। लेकिन उपर्युक्त पश्चिमी बङ्गाल के बारह ज़िलों में हिन्दुओं की संख्या मुसलमानों के मुक़ाबिले में दुगनी है। जैसा हम पहले कह चुके हैं, बङ्गाल की जन-संख्या ५ करोड़ है और उसका रक़बा ८३ हज़ार वर्गमील है। इन बारह ज़िलों का सम्मिलित रक़बा ३२ हज़ार वर्गमील से अधिक है, और आबादी एक करोड़ २७ लाख है। इस आबादी और रक़बे को यदि हम समूचे बङ्गाल की आबादी और क्षेत्रफल से निकाल लें, तो मुस्लिम बङ्गाल में सिर्फ़ १६ ज़िले रह जायँगे, जिनका रक़बा ५१ हज़ार वर्गमील और आबादी ३ करोड़ १४ लाख होगी। चटगाँव हिल्स को मुस्लिम बङ्गाल से अलग करना मुश्किल होगा, लेकिन जलपाईगुड़ी और दार्जिलिंग आसानी से अलग हो सकते हैं। इस तरह वर्तमान बङ्गाल के २८ ज़िलों में से कुल १४ ज़िले मुस्लिम बङ्गाल को मिलेंगे। पंजाब ही की तरह बङ्गाल को भी दो हिस्सों में—हिन्दू बङ्गाल और मुस्लिम बङ्गाल में—बाँटना होगा। पूर्वी बङ्गाल मुस्लिम बङ्गाल और पश्चिमी बङ्गाल हिन्दू बङ्गाल हो जायगा। जहाँ इस समय मिस्टर फ़ज़लुल हक़ बङ्गाल के २८ ज़िलों पर शासन कर रहे हैं, वहाँ मुस्लिम-संघ की स्थापना होने पर उनके राज्य का विस्तार सिकुड़कर आधा रह जायगा। इस समय जहाँ वे ८३ हज़ार वर्गमील पर शासन कर रहे हैं, वहाँ उनके मुस्लिम बङ्गाल का विस्तार सिर्फ़ ४७ हज़ार वर्गमील रह जायगा। पाँच करोड़ पर उनका शासन फिर नहीं चलेगा; उनके मुस्लिम बङ्गाल में केवल तीन करोड़ जनता रह

जायगी, जिसमें २ करोड़ १३ लाख तो मुसलमान होंगे और ८४ लाख हिन्दू। उनके हाथ से बङ्गाल की दो करोड़ जनता को छुटकारा मिल जायगा, जिसमें १ करोड़ ३२ लाख हिन्दू और ६२ लाख मुसलमान सम्मिलित हैं। इसलिए यह कोई अचरज की बात नहीं है अगर सर सिकन्दर हयात ख़ाँ और मियाँ फ़ज़लुल हक़ साहब पाकिस्तान की योजना के विषय में कुछ अधिक उत्साहित नहीं दिखाई देते। वे जानते हैं कि योजना से हिन्दुओं को नहीं, किन्तु मुसलमानों ही को अधिक से अधिक नुकसान पहुँचेगा।

(७)

ऊपर जितना हम कह चुके हैं, आइए, अब उस सबको भारतीय पैमाने पर रखकर हम मुस्लिम और हिन्दू-संघों के नक़्शों को खींचें। पश्चिम में बिलोचिस्तान, सिन्ध, सीमाप्रान्त और पंजाब के बारह पश्चिमी ज़िले मुस्लिम-संघ में शामिल होंगे। ६ देशी रियासतें भी इस मुस्लिम-संघ के अन्तर्गत होंगी। वे देशी रियासतें हैं पूर्वी जम्मू को छोड़कर काश्मीर, कपूरथला, बहावलपुर, रासबेला, क़िलात और ख़ैरपुर। पूर्व में बङ्गाल के १४ ज़िले मुस्लिम-संघ में चले जायँगे। हाँ, आसाम का एक ज़िला सिलहट भी मुस्लिम-संघ का हिस्सा होगा, क्योंकि वहाँ मुसलमानों की आबादी, हिन्दुओं की आबादी की तुलना में, कहीं अधिक है। (इसमें ११ लाख हिन्दुओं के मुक़ाबिले में १६ लाख मुसलमान हैं।) इतना ही विस्तार मुस्लिम-संघ का हिंदुस्तान की वर्तमान सीमाओं के अन्दर सम्भव है। इससे अधिक विस्तार उसका होना सम्भव नहीं। मुस्लिम-संघ में ब्रिटिश इंडिया का १ लाख ८५ हज़ार वर्गमील रक़बा और कुल आबादी ५ करोड़ ४१ लाख होगी, जिसमें १ करोड़ २६ लाख हिन्दू और १४ लाख सिक्ख और ३ करोड़ ५३ लाख मुसलमान होंगे। यदि ऊपर के आँकड़ों में उन ६ देशी रियासतों के भी आँकड़े जोड़ लिये जायँ जिनमें मुस्लिम बहुमत है, तो कुल मिलाकर मुस्लिम-संघ का रक़बा ३ लाख ६७ हजार वर्गमील और आबादी ५ करोड़ ८६ लाख होगी। इस जन-संख्या में एक करोड़ ३० लाख हिन्दू, १४ लाख सिक्ख और ३ करोड़ ६४ लाख मुसलमान होंगे। इसके विपरीत, हिन्दू-संघ के ११ लाख ५१ हज़ार वर्गमील के रक़बे में २८ करोड़ की आबादी होगी। इन २८ करोड़ में २२ करोड़ ६३ लाख हिन्दू, ३ करोड़ ७४ लाख मुसलनान और १८ लाख सिक्ख होंगे।

यदि पाकिस्तानवालों की राय के मुताबिक़ हिंदुस्तान हिन्दू-मुस्लिम संघों में विभाजित कर दिया जाय, तो ३ करोड़ ७४ लाख मुसलमान तो हिन्दू-संघ में आ जायँगे और ३ करोड़ ६४ लाख मुस्लिम-संघ में चले जायँगे। देशी रियासतों में रहनेवाले १·०६ लाख मुसलमानों में से ४१ लाख मुसलमान तो मुस्लिम-संघ के शासनाधिकार में हो जायँगे और ६५ लाख मुसलमानों को हिन्दू-संघ की हुकूमत के अन्दर आना पड़ेगा। हिन्दुस्तान के प्रत्येक ७७ मुसलमानों में से ३६ मुसलमान मुस्लिम संघ की छत्रच्छाया में चैन की वंशी बजायँगे, लेकिन उन्हीं के ३८ भाइयों को हिन्दू-संघ के विजातीय (!) शासन का लोहा झेलना पड़ेगा! इतना ही नहीं, किन्तु हैदराबाद, रामपुर, भूपाल, जावरा आदि मुस्लिम रियासतों को भी हिन्दू-संघ की पराधीनता स्वीकार करनी पड़ेगी। देशी रियासतों के प्रत्येक १०६ मुसलमानों में से सिर्फ़ ४१ को यह परम सौभाग्य प्राप्त होगा कि वे मुस्लिम-संघ की सुखद छाया में शान्ति-पूर्वक विश्राम कर सकें; बाक़ी ६५ मुसलमानों को तो हिंदू-संघ का हुक्म बजाना पड़ेगा। हिंदू-संघ एक ठोस राष्ट्र होगा। अमृतसर से लेकर पूर्वी बंगाल तक और उत्तरी हिमालय से लेकर कन्याकुमारी तक उसका अबाध, अनवरुद्ध और अखण्डित विस्तार होगा। इसके विपरीत, मुस्लिम संघ दो टुकड़ों में विभक्त हो जायगा। पूर्वी बंगाल के मुसलमानों को पश्चिमी पंजाब के मुसलमानों के साथ सहमंत्रणा और सहयोग के लिए हिन्दू-संघ के चार प्रान्तों को पार करना पड़ेगा। सैकड़ों मील की दूरी और करोड़ों आदमियों की घनी आबादी पश्चिमी पंजाब को पूर्वी बंगाल से जुदा करेगी। मुस्लिम-संघ के इन दो आकाश-पाताली अंगों में कैसे सहमंत्रणा सम्भव होगी, इस गुत्थी को शायद पाकिस्तान के उत्साहित समर्थकों ने सुलझाने की चेष्टा नहीं की। इसीलिए तो मैं कहता हूँ कि मुस्लिम संघ की योजना अव्यावहारिक, राजनीतिक दृष्टि से सर्वथा असम्भव और नैतिक दृष्टि से हेय है। मुसलमानों का इससे हित सम्भव नहीं, देश का इससे कल्याण नहीं; लेकिन लोगों को अपनी-अपनी सम्मति प्रकट करने का इस समय अधिकार है, देश को अंग-भंग करने के प्रस्ताव को पेश करने की उन्हें आज़ादी है। किन्तु जो लोग इस तरह की योजना तैयार करते हैं, उनको चाहिए कि वे अपने सामने कम से कम हिन्दुस्तान के नक़्शे और

इण्डियन ईयरबुक को कभी-कभी देख लेने का कष्ट बर्दाश्त किया करें। यदि वे ऐसा करेंगे तो मैं उन्हें विश्वास दिलाता हूँ कि उनकी योजना न तो इतनी अंड-बंड होगी और न उनके प्रस्ताव इतने उपहासजनक होंगे, जितनी अंड-बंड पाकिस्तान की योजना है और जितने निःसार इस समय के उनके प्रस्ताव हैं।

मैंने जान-बूझकर यहाँ पर उन प्रस्तावों की ओर संकेत नहीं किया जिनकी तरफ़ कभी-कभी दबी ज़बान से हमारे मुस्लिम दोस्त इशारा किया करते हैं। इस बात के जवाब में कि मुस्लिम-संघ के स्थापना की बाद ३ करोड़ ७४ लाख मुसल-मान यानी हिन्दुस्तान के मुसलमानों का ४४ प्रतिशत हिस्सा हिन्दू-संघ की हुकूमत रहेगा, वे यह कहा करते हैं कि कोई मुज़ायक़ा नहीं, हम न तीन करोड़ ७४ लाख मुसलमानों को मुस्लिम संघ में ले आयँगे और मुस्लिम-संघ में जो हिन्दू होंगे उन्हें हिन्दू-संघ में भेज देंगे। वे यह भूल जाते हैं कि मुस्लिम-संघ में सिर्फ़ एक करोड़ ४२ लाख हिन्दू रहेंगे और हिन्दू-संघ में मुसलमान होंगे ३ करोड़ ७४ लाख। जिन ३ करोड़ ७४ लाख को हिन्दुस्तान के विभिन्न प्रान्तों से उखाड़कर मुस्लिम शासित प्रान्तों में ले जाने का ख़्वाब हमारे लीगी भाई देख रहे हैं, उनसे पूछ देखिए कि क्या वे हिजरत करने के लिए किसी शर्त पर तैयार हैं। जिस जगह को १८ हिन्दू ख़ाली करेंगे, उसी जगह में ३७ मुसलमानों को बसाना साम्पत्तिक दृष्टि से असम्भव है; लेकिन स्थान-विशेषों के साथ हमारे जो सांस्कृतिक सम्बन्ध होते हैं उनकी अवहेलना करना पल्ले दरजे का पागलपन होगा। सदियों से या युगों से जो लोग जिस स्थान में रहते चले आये हैं, उन जगहों को छोड़ने के लिए कोई भी आसानी से तैयार न होगा। जो लोग मुसल-मानों की हिजरत का स्वप्न देख रहे हैं, वे यह भूल जाते हैं कि बिहिश्त भी जाने के लिए इस दुनिया का छोड़ना आम आदमियों के लिए परम दुखदाई होता है। फिर यह समझना कि परिचित स्थान को छोड़कर अपरिचित स्थान में बसने के लिए हिन्दुस्तान के ३ करोड़ ७४ लाख मुसलमान तैयार हो जायँगे जो स्वभाव से पुरातनपुजारी हैं, महज़ ख़याली पोलाव है। हाँ, ख़िलाफ़त के ज़माने की हिजरत की कहानी को भी इस अवसर पर हमें न भूलना चाहिए। लेकिन जो घाव अब पुर चुके हैं, उनको फिर से खरोंचना उचित न होगा।

मार्च, १९४०]

मिस्टर जिन्ना का मुस्लिम-संघ क्यों ?

अभी कुछ दिन हुए, लाहौर में मुस्लिम लीग का वार्षिक अधिवेशन हुआ
। उसके सभापति मिस्टर जिन्ना थे। वहाँ पर एक बड़े मार्के का प्रस्ताव मंजूर
ा, जिसके कारण देश में चारों तरफ़ हाहाकार मच गया। लीग ने अपने इस
ते में भारतवर्ष के साम्प्रदायिक विभाजन पर ज़ोर दिया। वह चाहती है कि
च्चमी और पूर्वी भारत में दो स्वतन्त्र मुस्लिम-संघ स्थापित किये जायँ। पश्चिमी
ज़म-संघ में सिन्ध, बिलोचिस्तान, सीमाप्रान्त और पंजाब के प्रान्त होंगे और
ी मुस्लिम-संघ के अंग होंगे आसाम और बंगाल के प्रान्त। मिस्टर जिन्ना की
के बारे में टिप्पणी यह है कि भारत में राष्ट्रीय एकता का स्वप्न सदा स्वप्न
बना रहेगा, क्योंकि भारत एक राष्ट्र नहीं है और न इस देश में एक जाति
लोग रहते हैं। उनका यह भी कहना है कि इस देश में हिन्दू और
लमान नाम की दो जातियाँ बसती हैं, इसलिए देश के जिन खंडों में
लमानों की आबादी अधिक है, उनमें मुसलमानों के स्वतंत्र संघ स्थापित
र दिये जायँ।

हिन्दुस्तान में ऐसे दो खंड हैं जिनका ऊपर उल्लेख किया गया
। मेरी समझ में नहीं आता कि इस प्रस्ताव के कारण कांग्रेसवाले क्यों चिन्तित
ौर विचलित हो उठे हैं। उन्हें तो प्रसन्न होना चाहिए। इस प्रस्ताव को
ीकार कर मिस्टर जिन्ना और मुस्लिम लीग ने अपनी राजनीतिक हार को
ीकार कर लिया। अभी तक उन्होंने जो जो माँगें पेश की थीं, उन सब पर
स प्रस्ताव ने हरताल फेर दी। पहले वे कहते थे कि हिन्दुस्तान में मुसलमान
ल्पसंख्यक जाति का पद स्वीकार करने के लिए कदापि तैयार न होंगे। इस
स्ताव से उनके इस माँग का खंडन हो जाता है; क्योंकि ६ प्रान्तों को
ोड़कर भारत के अन्य प्रान्तों में जो मुसलमान रह जाते हैं, वे तो अल्पसंख्यक ही
ंगे। वे हिन्दू-संघ के बहुसंख्यक हिन्दुओं के साथ बराबरी का दावा कैसे पेश
र सकेंगे और न लाहौर से मुस्लिम लीग ही को हिन्दू-संघ में रहनेवाले मुसलमानों
ी ओर से इस तरह के दावे को पेश करने की हिम्मत पड़ी। मिस्टर जिन्ना

अभी तक ब्रिटिश गवर्नमेंट की दोहाई दिया करते थे, वह भी आज इस प्रस्ताव से ख़तम हो गया। अभी तक वे धमकियाँ दिया करते थे, इन धमकियों का भी अन्त हो गया। अब जिन्ना साहब ने अपने (ब्रिटिश और हिन्दू दोस्तों को) लीग के इस प्रस्ताव को मान लेने के लिए समझाने-बुझाने की घोषणा की है। कांग्रेस के विरुद्ध मुस्लिम लीग अभी तक यह कहती चली आती थी कि कांग्रेसी प्रान्तों में अल्पसंख्यक मुसलमानों के साथ जुल्म किया गया। लेकिन अब जिन्ना साहब कांग्रेसी प्रान्तों के इन अल्पसंख्यक मुसलमानों को सहायता पहुँचाना चाहते हैं। मुस्लिम-प्रधान प्रान्त के मुस्लिम-संघ में संगठन द्वारा चले थे अल्पसंख्यकों को मदद पहुँचाने; ताल टूटी बहुसंख्यक के हिमायत पर!

मुस्लिम-संघ के खंडों पर एक नज़र

आइए, मुस्लिम-संघ के पूर्वी और पश्चिमी खंडों पर एक नज़र डालें। इस सम्बन्ध में दो बातें पहले ही साफ़ कर देनी आवश्यक हैं। प्रस्तावित मुस्लिम-संघ में बंगाल और आसाम प्रान्त शामिल कर दिये गए हैं। आसाम उसमें क्यों सम्मिलित कर दिया गया, यह समझ में नहीं आता। सन् १९३१ की मनुष्य-गणना के अनुसार आसाम की कुल आबादी ८६ लाख है, जिनमें ४९ लाख हिन्दू और कुल २७ लाख मुसलमान हैं। आसाम प्रान्त में एक ज़िला है, जिसका नाम सिलहट है; वास्तव में वह बंगाल का टुकड़ा है। बहुत दिनों से इस बात का आन्दोलन चला आ रहा है कि सिलहट का ज़िला बंगाल प्रान्त में मिला दिया जाय। अगर इसे हम आसाम प्रान्त से निकाल दें, तो केवल १२ लाख मुसलमान उस प्रान्त में रह जायँगे। इस प्रान्त की कुल आबादी जैसा हमने ऊपर बतलाया है ८६ लाख है, जिनमें ४९ लाख हिन्दू और २७ लाख मुसलमान हैं। सिलहट के ज़िले में मुसलमानों की आबादी १६ लाख और हिन्दुओं की संख्या ११ लाख है। अगर सिलहट का ज़िला आसाम प्रान्त से निकालकर बंगाल में जोड़ दिया जाय, तो आसाम की कुल आबादी ८६ लाख से घटकर ५९ लाख रह जाती है, जिसमें ३८ लाख हिन्दू और १२ लाख मुसलमान होंगे। इस हिन्दूप्रधान प्रान्त को पूर्वी भारत के मुस्लिम-संघ का एक अंग बनाना कैसे सम्भव होगा, यह समझ में नहीं आता। सिलहट रहे, या न रहे, हर हालत में आसाम तो हिन्दू-प्रधान प्रान्त है। किसी भी अवस्था में वह मुस्लिम-संघ का अंग नहीं हो सकता।

दूसरी बात यह है कि न तो समूचा बङ्गाल और न समूचा पंजाब मुस्लिम-संघ में मिलाया जा सकता है। पंजाब की कुल आबादी २,३६ लाख है, जिसमें से १३३ लाख मुसलमान, ६३ लाख हिन्दू और ३१ लाख सिक्ख हैं। लेकिन अम्बाला और जालन्धर की कमिश्नरियाँ तथा अमृतसर के ज़िले में मुसलमानों की आबादी ५० सैकड़ा से भी बहुत कम है। अम्बाला की कमिश्नरियों में छः और जालन्धर की कमिश्नरी में पाँच ज़िले हैं। इस तरह से पंजाब के २३ ज़िलों में से १२ ज़िले ऐसे हैं जिनकी कुल आबादी ६८ लाख है। उसमें ४४ लाख हिन्दू, १८ लाख सिक्ख और महज़ २६ लाख मुसलमान हैं। ऐसी दशा में पंजाब के ये बारह ज़िले किसी तरह से भी मुस्लिम-संघ में सम्मिलित नहीं हो सकते हैं।

जो हालत पंजाब की है, यही हालत बंगाल की भी है। बङ्गाल में कुल २८ ज़िले हैं। इस सूबे की कुल आबादी ५ करोड़ है, जिसमें २ करोड़ ७५ लाख मुसलमान और २ करोड़ १६ लाख हिन्दू हैं। लेकिन पश्चिमी बंगाल में १४ ज़िले ऐसे हैं जिनकी सम्मिलित आबादी १ करोड़ २७ लाख है। यदि ये १४ ज़िले जो हिन्दू प्रधान हैं, बंगाल से निकाल दिये जायँ, तो बंगाल के मुस्लिम-प्रधान हिस्से की कुल आबादी ५ करोड़ के स्थान में केवल तीन करोड़ रह जायगी। उसमें २१३ लाख मुसलमान और ८४ लाख हिन्दू होंगे, क्योंकि हिन्दू-प्रधान १४ ज़िलों की आबादी में १३२ लाख हिन्दू और ६२ लाख मुसलमान सम्मिलित हैं।

यदि पश्चिमी बंगाल के १४ ज़िले और पूर्वी पंजाब के १२ ज़िले उस प्रस्तावित मुस्लिम-संघ से निकाल लिये जायँ, और साथ ही यदि आसाम प्रान्त से मुस्लिम-प्रधान सिलहट को पूर्वी बंगाल में जोड़ दिया जाय, तो प्रस्तावित मुस्लिम-संघ के दो हिस्सों में हिन्दू और मुसलमामों की संख्या निम्न होगी :—

पश्चिमी खण्ड

प्रान्त	हिन्दू	मुसलमान
१—सिन्ध	११ लाख	२८ लाख
२—सीमा प्रान्त	१ लाख	२२ लाख
३—बिलोचिस्तान	...	३ लाख
४—मुस्लिम-प्रधान बंगाल	१६ लाख	१०४ लाख

मुस्लिम-प्रधान बङ्गाल सिलहट

१—मुस्लिम-प्रधान		
बंगाल	८४ लाख	२१३ लाख
२—सिलहट	११ लाख	२७ लाख
कुल जोड़	१२६ लाख	३६७ लाख

इस तरह से यदि ब्रिटिश शासित प्रान्तों का साम्प्रदायिक बँटवारा होगा, तो मुस्लिम-संघ के ऊपर दिये हुए पंजाब और बंगाल के खण्डों को निकाल देना होगा। हिन्दू-प्रधान प्रान्त जिनमें हिन्दू-प्रधान पश्चिमी बंगाल और पूर्वी पंजाब भी सम्मिलित हैं, लीग के अनुसार हिन्दू-संघ के शासन के अधीन हो जायँगे। इस हिसाब से ब्रिटिश भारत का १८५ हज़ार वर्गमील रक़बा मुस्लिम-संघ में चला जायगा। इस रक़बे की आबादी पाँच करोड़ ४१ लाख होगी जिसमें हिन्दुओं की संख्या १२६ लाख और मुसलमानों की आबादी ३६७ लाख होगी। इन हिन्दुओं और मुसलमानों के अलावा मुस्लिम संघ में १४ लाख सिक्ख भी होंगे। शेष भारतवर्ष में, मुस्लिम लीग के अनुसार, हिन्दू-संघ के अन्तर्गत होंगे २३ करोड़ हिन्दू और ३७३ करोड़ मुसलमान और १८ लाख सिक्ख।

मुस्लिम-प्रधान प्रान्तों में तो मुस्लिम लीग के अनुसार, मुसलमानों के साथ न तो कोई ज़्यादती हुई और न कभी अत्याचार हुए। मुसलमानों पर कथित 'अत्याचार' यदि कहीं हुए, तो वे हुए केवल हिन्दू-शासित प्रान्तों में। मुस्लिम-संघ की स्थापना के बाद भी हिन्दू-संघ में लगभग चार करोड़ मुसलमान हिन्दू संघ के अधीन बसने के लिए मजबूर होंगे। लाहौर के लीगी प्रस्ताव से इन चार करोड़ की दशा में तो रंच भी सुधार नहीं हो सकता। ऐसी दशा में क्या यह कहना अनुचित होगा कि मुस्लिम लीग अल्प संख्यक मुसलमानों के साथ अभी तक जो हमदर्दी प्रकट करती चली आती थी, वह महज़ ज़बानी हमदर्दी थी और उसका एकमात्र उद्देश्य था कांग्रेसी सरकारों को बदनाम करना। उस आन्दोलन के पीछे काम करनेवाली नीयत थी कांग्रेसी प्रान्तों में रहनेवाले मुसलमानों में मज़हबी वातावरण फैलाना और साम्प्रदायिक मन-मोटाव को उत्तेजित कर, भाई-भाई को लड़ाना। मुस्लिम लीग के आन्दोलन

की फूट का सबसे बड़ा प्रमाण मुस्लिम संघ की यही योजना है जिसे मिस्टर जिन्ना के सभापतित्व में मुस्लिम लीग ने लाहौर में स्वीकार किया।

रक्षा का ख़र्च

जब सिन्ध, सीमा-प्रान्त, बिलोचिस्तान और पंजाब को मिलाकर पश्चिमोत्तर भारत में एक मुस्लिम संघ स्थापित हो जायगा, उस समय पंजाब, बिलोचिस्तान, सिन्ध और सीमा-प्रान्त को गवर्नमेंट आफ़ इण्डिया के सैनिक विभाग द्वारा करोड़ों रुपयों की जो आमदनी होती है, उसका दरवाज़ा एकदम से बन्द हो जायगा। हमारा अनुमान है कि इस मद से इन प्रान्तों के निवासियों को २० करोड़ रुपये की सालाना आमदनी होती है। सीमा-प्रान्त की रक्षा की भी सारी ज़िम्मेदारी इन मुस्लिम संघों के इस पश्चिमी खंड ही पर आ जायेगी। बिलोचिस्तान, सीमा-प्रान्त और सिन्ध दिवालिया प्रान्त हैं। अपने सारे ख़र्चे को भी अपनी सालाना आमदनी से वे पूरा नहीं कर सकते। अतएव भारत-सरकार को इन्हें कई करोड़ की सालाना सहायता देनी पड़ती है। इधर आमदनी बन्द हो जायगी, उधर मुस्लिम संघ की पश्चिमी सीमा की रक्षा के लिए इस पश्चिमी मुस्लिम संघ को करोड़ों रुपये के ख़र्चे को अलग मुड़ियाना पड़ेगा। व्यापारिक दृष्टि से भी मुस्लिम संघ के पूर्वी और पश्चिमी खंड हिन्दू-संघ की तुलना में ठहर नहीं सकते। खनिज पदार्थों के लिए उन्हें हिन्दू-संघ का मुँह ताकना पड़ेगा। सभ्य जीवन के किसी क्षेत्र में पाँच करोड़ का संघ २८ करोड़ के संघ की बराबरी नहीं कर सकता। क्या व्यापार और व्यवसाय में, क्या शिक्षा में, और क्या साम्पत्तिक साधनों में मुस्लिम संघ के दोनों ही खंडों की दशा कहीं अधिक ख़राब हो जायगी। साथ ही उनके ऊपर सैनिक ख़र्चे का भार इतना अधिक पड़ेगा कि वे उसको निकट भविष्य में सँभालने में सर्वथा असमर्थ होंगे।

पीछे का रहस्य

यहाँ पर यह सवाल उठता है कि क्या ये आपत्तियाँ मिस्टर जिन्ना और लीग के दूसरे नेताओं को मालूम न थीं; और यदि मालूम थीं तो फिर क्यों उन्होंने जान-बूझकर इस तरह की माँग जनता के सामने रक्खी। एक दिन था

जब लीगी नेता हिन्दुस्तान में मुसलमानों को "परदेशी" सिद्ध करने के लिए जी-जान से लगे थे। लाहौर के बाद तो लीगी भी यह आवाज़ बुलन्द करने लगे हैं कि ९० फ़ी सदी मुसलमान इसी मुल्की ख़ाक से बने और मुसलमान होने के पहले उनके बाप-दादे हिन्दू थे। एक लीगी नेता के अनुसार मिस्टर जिन्ना के पूर्वज गुजराती भाटिया थे। सर सिकन्दर हयात ख़ाँ के पूर्वज भी हिन्दू थे। लीगियों का यह भी कहना है कि दस फ़ी सदी "परदेशी" मुसलमान उन परदेशियों की औलादें हैं जो कई सौ वर्ष पहले इस मुल्क में आये थे। लिहाज़ा वे भी इस मुल्क के हैं। ऐसी हालत में फिर क्या कारण है कि मिस्टर जिन्ना और उनके साथी मज़हब के नाम पर हिन्दुस्तान को दो टुकड़ों में बाँटने के लिए लालायित हो उठे हैं ? क्या इसके पीछे कोई रहस्य छिपा है ? यदि छिपा है तो वह क्या है ?

इसके पूर्व कि हम लाहौरी माँग के रहस्य को दिखाने की कोशिश करें, एक बात आपको बतलाना ज़रूरी मालूम होता है। मुस्लिम लीग में लोग जाकर जो बातें किया करते हैं, उसको हमें ध्रुव सत्य नहीं समझ लेना चाहिए। मुस्लिम लीग ग़ैर-ज़िम्मेदार लोगों की एक संस्था है। मुस्लिम लीग के भड़काने में किसी सूबे का कोई भी व्यक्ति न आवे। जिन्ना साहब और उनके पिट्ठुओं ने, अभी थोड़े दिन की बात है, यह फ़तवा निकाला था कि प्रजासत्तात्मक शासन-प्रणाली हिन्दुस्तान के जलवायु में पनप नहीं सकती, क्योंकि वह हिन्दुस्तान की परम्परा के प्रतिकूल है। सिन्ध, पंजाब और बंगाल की असेम्बलियों में मुसलमानों का बहुमत है। मैं भूल गया, सीमाप्रान्त की असेम्बली में भी मुसलमानों का बहुमत है। इन चार प्रान्तों की एक भी असेम्बली ने मुस्लिम लीग के इस फ़तवे को स्वीकार नहीं किया। यद्यपि बंगाल और पंजाब के प्रधान सचिव और मन्त्री लीगी हैं; फिर भी उन्होंने लीग की हिदायत को ठुकरा दिया। लीग की कौंसिल ने, पाठकों को याद होगा, यह फ़ैसला किया था कि इस लड़ाई में ब्रिटिश साम्राज्य की सहायता हिन्दुस्तान के मुसलमान उस समय करेंगे जब मिस्टर जिन्ना यह घोषणा प्रकाशित कर देंगे कि उनको मुसलमानों के हितों की रक्षा के सम्बन्ध में ब्रिटिश सरकार से संतोषजनक आश्वासन मिल गया है। लेकिन इसकी परवाह न तो बंगाल और न पंजाब के मंत्रिमंडल ने की, यद्यपि दोनों ही

प्रान्तों की असेम्बलियों और मंत्रिमंडल में मुस्लिम लीगी सदस्यों का बहुमत है। इसका अर्थ साफ़ है। लीग के देखने के दाँत व खाने के दाँत भिन्न हैं। लीगी कुत्ता भूँकना तो ख़ूब जानता है, लेकिन काटना नहीं जानता। उसमें वह शक्ति नहीं कि वह अपनी भूल को अपने ही सदस्यों से मनवा सके। बन्दरघुड़की और धमकियों का ख़ज़ाना लीग के पास अटूट है। इसी सम्पदा के बल पर वह देश में अपनी धाक जमाना चाहती है। उसमें ऐसे लोगों का जमघट है जो त्याग करने के लिए तैयार नहीं हैं और जिन्हें सिद्धान्त के नाम पर मर मिटने की तमन्ना है। साम्राज्यशाही के खुशामदियों का उसमें बोलबाला है। पदों के फेर में पड़कर वे अपने सब सिद्धान्तों को भूल सकते हैं। उदाहरण के लिए सिन्ध के उन लीगी सदस्यों को लीजिए जो अभी कल तक मुस्लिम हितों की रक्षा के लिए राष्ट्रीयता के ख़िलाफ़ तलवार उठाने के लिए विकल हो रहे थे; लेकिन मन्त्रिमण्डलों में शरीक होने का अवसर मिला नहीं कि उन्होंने अपने प्रस्ताव पर तुरन्त हरताल फेर दी और सिन्ध की असेम्बली में जो मुस्लिम पार्टी थी, उसका खात्मा कर दिया। लाहौर के प्रस्ताव पर स्याही सूखने भी न पाई थी कि सिन्ध के असेम्बली के मुस्लिम सदस्यों ने पदों का सौदा कर क्षण भर में कट्टर साम्प्रदायिक वर्दी-चोगे को उतारकर फेंक दिया और आज दिन राष्ट्रीयवादी का चोगा पहनकर रङ्गमञ्च पर नाच रहे हैं। ऐसी सत्यहीन, ऐसी सिद्धान्तहीन संस्था में सिद्धान्तों को अनावश्यक महत्त्व देना व्यर्थ है।

महत्त्व क्यों ?

फिर भी क्यों लीग के प्रस्ताव को इतना महत्त्व दिया जाता है। इसके दो कारण हैं। एक तो ब्रिटिश शासन को लीग की राष्ट्र-विरोधी नीति से बल पहुँचता है। बहुत से अँगरेज़ राजनीतिज्ञ लीगी मुसलमानों की धमकियों को यह समझकर महत्त्व देते हैं कि उनमें सार है और उनके पीछे भारत के मुसलमानों के दृढ संकल्प का बल है। इसीलिए वे हिन्दू-मुस्लिम मन-मोटाव को वास्तविक समझते हैं और उनमें से कई इस बात पर नेकनीयती से विश्वास करते हैं कि जब तक यह साम्प्रदायिक समस्या हल न हो जायगी, उस वक्त तक भारतवर्ष में राज-नैतिक प्रगति सम्भव नहीं है। लेकिन साथ ही हमें यह भी न भूलना चाहिए कि

ख़िलाफ़त के जमाने में ख़िलाफ़त कमेटी मुसलमानों के ख़िलाफ़त के विरोधियों के ख़िलाफ़ न जाय, कितने ही बार आग उगली थी, उसमें ब्रिटिश साम्राज्यशाही ने उनकी बन्दरघुड़कियों का कोई विशेष महत्त्व देना उचित न समझा था। कोई कारण नहीं कि आज दिन फिर क्यों मुस्लिम लीग की खोखली धमकियों को हम अहमियत दें। दूसरा कारण यह है कि लीग देश की आज़ादी नहीं चाहती। वह हमारी स्वतन्त्रता की विरोधी है। देश की सारी प्रकृति-विरोधनी शक्तियों की लीग के साथ इस समय सहानुभूति है, क्योंकि लीग ही के विरोध में उन्हें अपने स्वार्थ के हितों की रक्षा दिखाई दी है।

लीग की नीति

मुस्लिम लीग की मौजूदा नीति को समझने के लिए हैदराबाद की रियासत को हमें सदा अपनी आँख के सामने रखना चाहिए। हैदराबाद में ८५ फ़ी सदी हिन्दू और केवल १५ फ़ी सदी मुसलमान हैं। वहाँ का शासक कट्टर मुसलमान है। इस्लाम के हितों के लिए लाखों रुपयों की इमदाद निज़ाम से हर साल मिलती है। मुसलमान आन्दोलन का केन्द्र आज दिन हैदराबाद हो रहा है। भारतीय संघ शासन में हैदराबाद तथा अन्य देशी रियासतें यदि शामिल होती हैं, तो हैदराबाद के मुसलमानों का, हिन्दू रियाया के ऊपर शासन करने का अधिकार बहुत कुछ लुप्त हो जायगा। यदि प्रजासत्ता का प्रवेश देशी रियासतों में हो गया तो हैदराबाद की निज़ामशाही में वैधानिक अन्त हो जायगा। इसीलिए तो मुस्लिम लीग भारतवर्ष में प्रजा-सत्ता की संस्थापना का विरोध करती है ताकि हैदराबाद के बहु-संख्यकों के ऊपर अल्प-संख्यकों का शासन बना रहे। मुस्लिम लीग भारतवर्ष में भारतीय संघ का विरोध इसलिए कर रही है कि वह समझती है कि अगर हिन्दुस्तान में भारतीय संघ के स्थान पर साम्प्रदायिक संघ स्थापित हुआ तो फिर अखिल भारतीय संघ की योजना सम्भव हो जायगी। रजवाड़े इस तरह से भारतीय संघ की अधीनता से यदि बच सकते हैं तो तभी, जब हिन्दुस्तान के प्रान्तों में साम्प्रदायिक संघ का संगठन हो; मुस्लिम लीग के लाहौरी प्रस्ताव का अर्थ केवल इतना है। यही उसके पीछे रहस्य है। मुस्लिम लीग देश की स्वाधीनता का विरोध करती है, क्योंकि वह साम्राज्यशाही की दोस्त है। वह

इसलिए भी विरोध करती है, क्योंकि वह नहीं चाहती है कि देशी रजवाड़ों के नियन्त्रित शासन का अन्त हो। साम्राज्यशाही और उसके पुछल्ले रजवाड़े चिरंजीवी बने रहें, चाहे देश बरबाद हो जाय। सन्तोष की बात यह है कि मुस्लिम लीग भारतवर्ष के सब मुसलमानों की प्रतिनिधि संस्था नहीं है। यह भी सौभाग्य की बात है कि दिन-प्रतिदिन मुस्लिम लीग की घातक नीति को अधिकाधिक मुसलमान पहचानते जाते हैं। देश की आज़ादी के मामले को जिन्ना और उनके साथी अधिक दिन तक रोकने से अब असमर्थ होंगे।

अप्रैल, १९४०]

अल्पता की समस्या कैसे हल हो ?

१९०७ में अलीगढ़ कालेज में बोलते हुए स्वर्गीय श्रीमान् गोपालकृष्ण गोखले ने कहा था कि भारत की राजनीतिक समस्या एक त्रिभुज के समान है जिसकी कोई दो भुजाएँ मिलकर तीसरी से बड़ी होंगी। हिन्दू, मुसलमान और अँगरेज़ सन् १९०७ में भारत के राजनीतिक त्रिभुज के तीन दंड थे। सन् १९४० में इस समस्या ने त्रिभुज के आकार को छोड़कर अनन्त भुज का स्वरूप धारण कर लिया। ईसाई, एँग्लो-इंडियन, यूरोपियन व्यापारी, सिक्ख, ब्राह्मण, अब्राह्मण दलित, आदिम निवासी, शिया, रजवाड़े, ब्रिटिश गवर्नमेंट आदि इस समय अपने अपने वास्तविक या कल्पित स्वार्थों और हितों के विशेष संरक्षण पर बेतरह ज़ोर दे रहे हैं। मानो, भारत में भारतीय जनता का केवल एक ही अधिकार है और वह यह है कि जो अपने को अल्पसंख्यक कहे, उसी की जायज़ या नाजायज़ माँग को चुपचाप स्वीकार कर उसको संतुष्ट किया जाय। देश की परवाह किसी को नहीं। राष्ट्र की चिन्ता किसी को नहीं। अल्पता के नाम पर स्वार्थ का बाज़ार गर्म हो उठा है। ऐसी दशा में इस समस्या को सुलझाने की चेष्टा करना नितान्त बेवकूफ़ी-सी मालूम देती है। अँगरेज़ी सल्तनत रहे, या स्वराज हो जाय, पाकिस्तान क़ायम हो या न क़ायम हो, हमारे प्रान्त में प्रजासत्तात्मक शासन हो या किसी दूसरे प्रकार की शासन-प्रणाली चालू कर दी जाय; लेकिन फिर भी अल्पता-सम्बन्धी मोटे मोटे प्रश्न तो हर हालत में आये दिन उठते ही रहेंगे। इन्हीं सवालों का ज़िक्र हम पहले कर चुके हैं और पूर्व विवेचना के आधार पर हम उस नीति का निरूपण करना चाहते हैं जिसके द्वारा सूबे में बहुसंख्यक और अल्प-संख्यक समान रूप से संतुष्ट हो सकते हैं।

कुछ प्रश्न

सूबे की अल्पता-समस्या के अन्तर्गत निम्नलिखित प्रश्न विचारणीय हैं :—

१—क्या हिन्दू और मुसलमानों की इस सूबे में दो क़ौमें बसती हैं या दोनों एक ही क़ौम के हैं, यद्यपि उनमें धार्मिक भेद है?

२—सरकारी नौकरियों में विभिन्न सम्प्रदायों का प्रतिनिधित्व किस प्रकार सुरक्षित किया जा सकता है?

३—सूबे की सरकारी भाषा और लिपि कौन-सी हो? हिन्दी या उर्दू-भाषा और देवनागरी या फ़ारसी लिपि?

४—स्थानीय बोर्डों में विभिन्न संप्रदायों को किस परिमाण में और किस प्रकार से प्रतिनिधित्व मिलना चाहिए?

५—धार्मिक स्वतन्त्रता के स्वत्व को सुरक्षित रखने के लिए प्रान्तिक अमलदारी को किस नीति का अनुसरण करना चाहिए?

६—सामाजिक समानता के स्थापित करने में कौन-कौन-सी रुकावटों को दूर करने की ज़रूरत है और उसको प्रान्तव्यापी बनाने के क्या साधन हो सकते हैं?

७—शिक्षा में पिछड़ी हुई श्रेणियों को आगे बढ़ाने के लिए मौजूदा नीति में किस तरह के परिवर्त्तनों की आवश्यकता है?

मोटे ढंग से यही सात प्रश्न किसी न किसी रूप में बराबर उठते रहते हैं। इन्हीं पर आगे चलकर हम क्रमशः विचार करना चाहते हैं।

* * *

क्या भारत में, और क्या युक्तप्रान्त में अल्पता की समस्या का वास्तविक अर्थ यह नहीं है कि बहुसंख्यकों-द्वारा पिछले या भावी अत्याचारों से अल्पसंख्यकों की रक्षा की जाय, किन्तु यह है कि अल्पसंख्यकों के परम्परागत विशेषाधिकार से बहुसंख्यकों को छुटकारा मिल जाय। पिछले हज़ार साल से इस देश पर परदेशी अल्पसंख्यक शासकों ने राज्य किया है और अपनी सल्तनत को इस मुल्क में चिर-स्थायी बनाने की नीयत से भारतीय समाज के कतिपय वर्गविशेषों को विशेष सुविधाएँ और अधिकार प्रदान कर अपने शासन के अस्तित्व के साथ उनके स्वार्थों को अक्षुण्ण रहने की संभावना को दृढ़वती बनाकर अपने पक्ष में उनके सहयोग और सहायता पाने का अचूक प्रबंध कर लिया। उदाहरण के लिए यहाँ पर एक

ताल्लुक़ेदार सज्जन के कथन के उल्लेख कर देना अनुचित न होगा—"हम ताल्लुक़ेदार देश की आज़ादी की लड़ाई में कैसे हिस्सा ले सकते हैं ? जब तक इस देश में साम्राज्यशाही बनी रहेगी तब तक ताल्लुक़ेदारी अमर है।"

अँगरेज़ों की नीति

अंगरेज़ों ने राजनीतिक कारणों से इस सूबे के मुसलमानों की सहानुभूति को अपने साथ रखने के लिए उनके प्रति विशेष रूप से उदार व्यवहार को अपनी नीति का एक प्रधान अंग बना रखा है। ग़दर के बाद से इस सूबे की अमलदारी वास्तव में एँग्लो-मुस्लिम अमलदारी थी—अँगरेज़-प्रधान और मुस्लिम अधीनस्थ शासक थे। प्रान्तिक सुधारों के कारण अल्पसंख्यक मुस्लिमों का प्रान्तिक शासन में महत्त्व घटने लगा। कांग्रेसी हुकूमत के बाद से तो यह स्पष्ट हो गया कि शासन का केन्द्र अल्पसंख्यक के स्थान में बहुसंख्यक बन गया। वह यह भी अनुभव करने लगे कि पुराना ज़माना सदा के लिए लद गया और भविष्य में उन्हें हुकूमत से वह विशेष लाभ और सुविधाएँ प्राप्त न हो सकेंगी, जिनके वे पिछले हज़ार साल से आदी हो गये हैं। शक्ति के ह्रास की आशंका ने उनमें सनसनी फैला दी, क्योंकि अल्पसंख्यकों ने देख लिया कि अब आगे चलकर वे बहुसंख्यकों पर शासन न कर सकेंगे। इसी भय और आशंका ने अल्पता की समस्या को इतना सबल बना दिया। शासक शासित नहीं होना चाहता। जो विशेपाधिकारियों पर पले हैं, वे उन्हें छोड़ना नहीं चाहते। साम्प्रदायिक स्वार्थ अपने को अक्षुण्ण बनाये रखने की तदबीर में—यदि ज़रूरत पड़े तो—राष्ट्रीय हितों के प्रति न केवल उदासीन ही हो सकता है, किन्तु उससे टक्कर लेने में भी उसको किसी तरह की हिचकिचाहट न होगी। सन् १६०७ से लेकर सन् १६४० तक की यही कहानी है। अतएव हमारे प्रान्त में, सचमुच कोई अल्पता की समस्या नहीं है; यहाँ तो समस्या है बहुसंख्यकों के नैसर्गिक स्वत्त्वों और हितों को फिर से वापस दिलाने की। बहुसंख्यकों के अत्याचार मे पीड़ित अल्पसंख्यकों के संरक्षण की ज़रूरत नहीं है। ज़रूरत है, दरअस्ल, अल्पसंख्यकों के अत्याचार मे पीड़ित बहुसंख्यकों के संरक्षण की।

'सांस्कृतिक स्वराज्य'

इसी सम्बन्ध में हम पाठकों का ध्यान मुस्लिम अल्पसंख्यकों की बहु-

संख्यकों को दबाने और उनके नैसर्गिक हितों को लापरवाही के साथ ठुकराने की प्रवृत्ति का विशेष रूप से उल्लेख कर देना चाहते हैं, ताकि पाठकों को इस कथित अल्पता की समस्या का वास्तविक स्वरूप अच्छी तरह से मालूम हो जाय। हमारे मुसलमान भाई उर्दू-लिपि और भाषा के कट्टर से कट्टर पक्षपाती हैं। उर्दू के पक्ष का समर्थन इस समय यह कहकर किया जाता है कि किसी जाति-विशेष या सम्प्रदाय-विशिष्ट को सांस्कृतिक अनूठेपन को सुरक्षित रखने के लिए उस जाति-विशिष्ट या सम्प्रदाय-विशेष की मातृभाषा का संरक्षण परमावश्यक है। अपनी धार्मिक और सामाजिक संस्कृति की रक्षा के लिए हमारे मुसलमान भाई सदा से इस कोशिश में लगे रहे हैं कि न सिर्फ़ उनके बच्चों को, किन्तु दूसरे सम्प्रदायों के बच्चों को भी उर्दू पढ़ाई जाय। मानो इस देश में इस्लाम के अतिरिक्त न कोई दूसरा धर्म है, और न मुस्लिम संस्कृति से जुदा कोई दूसरी संस्कृति है।

मुस्लिम लीगवाले कहते हैं कि उन्हें भारतवर्ष में "सांस्कृतिक स्वराज्य" मिलना चाहिए। हम उनके इस दावे की सत्यता और आवश्यकता को मुक्तकंठ से स्वीकार करते हैं। इसी सांस्कृतिक स्वराज्य का एक अंश "भाषा-स्वराज्य" भी है। इसीलिए यदि युक्तप्रान्त के मुसलमान अपने बच्चों को उर्दू-लिपि और भाषा के द्वारा शिक्षा दिलाने की माँग पेश करते हैं, तो हम उसका भी समर्थन करने को तैयार हैं; लेकिन एक शर्त के साथ कि जो "सांस्कृतिक स्वराज्य" वे अपने लिए चाहते हैं वही "सांस्कृतिक स्वराज्य" उन्हें दूसरों को भी देने के लिए तैयार होना चाहिए। पर तैयार होना तो दूर रहा, वे दूसरों के इस दावे के अस्तित्त्व तक को मानने के लिए तैयार नहीं हैं। हैदराबाद, पंजाब और काश्मीर उनके इस संकुचित दृष्टिकोण और साम्प्रदायिक हठधर्मी की सत्यता को ऊँचे स्वर से घोषित करते हैं। काश्मीर की भाषा उर्दू नहीं है और न उर्दू-लिपि वहाँ की प्राचीन लिपि है। लेकिन वहाँ के बच्चों के लिए शिक्षा का माध्यम उर्दू बनाई जानेवाली है। यही हाल पंजाब और हैदराबाद का है। दूसरों के सांस्कृतिक स्वत्त्वों का इस निर्दयता के साथ हनन करना पंजाब और काश्मीर के बहुसंख्यक मुसलमान और हैदराबाद के अल्पसंख्यक मुस्लिम अपना परम पुनीत धर्म समझते हैं। हैदराबाद, काश्मीर और पंजाब में सांस्कृतिक स्वराज्य की माँग घातक दिखाई देती है; लेकिन युक्तप्रान्त, बिहार और मध्यप्रान्त

में सांस्कृतिक स्वराज्य की गुहार के द्वारा वे हैदराबाद, पंजाब और काश्मीर में प्रचलित या अनुमोदित नीति को चलाने की कोशिशें करते हैं। सांस्कृतिक स्वराज्य का इन लोगों की दृष्टि में एक ही अर्थ है और ख़ास आदमियों ही को इनकी निगाह में उसकी ज़रूरत है। सिर्फ़ मुसलमानों के लिए सांस्कृतिक स्वराज्य चाहिए !

दो क़ौमें

जहाँ तक पहले प्रश्न का सम्बन्ध है, मिस्टर जिन्ना भी अब यह कहने लगे हैं कि हिन्दू और मुसलमानों में ख़ून का भेद नहीं है। वे कहते हैं कि धार्मिक भेद और तज्जनित सांस्कृतिक भेद के होने के कारण हमें यह स्वीकार कर लेना चाहिए कि हिन्दुस्तान में दो क़ौमें हैं, एक क़ौम नहीं। उन्हीं की देखादेखी इस सूबे के भी कुछ मुसलमान नेता दो जातियों की इसी स्थापना का ज़ोरों से प्रचार करने में संलग्न हैं। अपने को भारतीय तो वे कहते हैं। भारत को अपना देश भी स्वीकार करते हैं। लेकिन मज़हब और संस्कृति की भिन्नता के नाम पर विशेष अधिकारों की माँग पेश करते हैं। उनका कहना है कि कांग्रेसी हुकूमत के ज़माने में उन्होंने देख लिया कि उनके साथ कैसी-कैसी बे-इंसाफियाँ हो सकती हैं और किस तरह से उनकी उचित माँगें सुनी-अनसुनी की जा सकती हैं। उनका कहना है, उनके ऊपर कांग्रेसी हुकूमत के ज़माने में दिल खोलकर किये गये अत्याचार और उनके बचाने की गुहार को हुकूमत ने सुनी-अनसुनी कर दिया। वह यह भी, कांग्रेस के ऊपर, लांछन लगाते हैं कि इस सूबे के मुसलमानों की मातृ-भाषा उर्दू को उसने मटियामेट करने की कोशिश की तथा सरकारी नौकरियों के वितरण में उनकी कुछ भी परवाह न की गई। इन सब बातों के सविस्तर खण्डन की यहाँ पर कोई ख़ास ज़रूरत हमें नहीं दिखाई देती, क्योंकि सर हैरीहेग ने, जो कांग्रेसी मंत्रिमंडल के ज़माने में इस प्रान्त के गवर्नर थे, यहाँ से इंगलैंड वापस जाने के बाद अपने एक भाषण में कहा है कि इस प्रान्त में कांग्रेसी सरकार ने अल्पसंख्यकों के साथ किसी तरह का भी अत्याचार या अनुचित व्यवहार नहीं किया। उनकी राय में साम्प्रदायिक मनोमालिन्य का कारण मानसिक है।

सर हैरीहेग के कथन का केवल एक ही अर्थ हो सकता है और वह यह

कि इस सूबे में प्रजा-सत्ता-शासन स्थापित होने के पूर्व अँगरेज़ों ने मुसलमानों को शासन में जो रियायतें दे रक्खी थीं, उन रियायतों को प्रान्तिक स्वराज्य के दिनों में न मिलने के कारण मुसलमानों में साम्प्रदायिक विद्वेष की ज्वाला भभक उठी। मुस्लिम लीग कांग्रेस के साथ मन्त्रिमण्डल का बँटवारा करना चाहती थी। उसकी माँग थी कि मन्त्रिमण्डल में वे ही मुसलमान लिये जायँ, जिन्हें मुस्लिम लीग इस काम के लिए नामज़द करे। इस भावना के पीछे यह भी भावना कार्य करती थी कि जिन हिन्दुओं पर इस सूबे के मुसलमानों ने एक हज़ार साल तक राज्य किया, वे ही हिन्दू अब बहुसंख्यक होने के कारण अपने पुराने प्रभुओं के प्रभु बन बैठे हैं। मुस्लिम लीग के सदस्यों ने और मुस्लिम अख़बारों ने मुस्लिम जनता में इस तरह की बातों का प्रचार बड़े ज़ोरों से किया। इस बात को सिद्ध करने के लिए कि जब तक मन्त्रिमण्डलों में लीगी प्रतिनिधि न लिये जायँगे, तब तक सूबे के मुसलमानों के स्वत्त्वों की रक्षा होना संभव नहीं है, उन्होंने मुसलमानों के प्रति हिंदुओं के अत्याचारों की असत्य और निस्सार कहानियाँ गढ़ डालीं और बड़ी लगन और तत्परता के साथ उन कहानियों को मुसलमानों ने अपने सहधर्मियों में फैलाने की अथक कोशिशें कीं। कांग्रेस गवर्नमेंट ने लीग के इस आन्दोलन को तरह दी। उसे इनकी देश-भक्ति में और भारत के उत्थान का भरोसा था। पन्त-मन्त्रिमण्डल का भरोसा ग़लत सिद्ध हुआ। भरोसा न था, भ्रम निकला। कांग्रेसवालों की भी आँखें खुलीं, लेकिन बहुत देर में। यह सही है कि कांग्रेसियों में भी ऐसे लोगों की कमी न थी, जो लीगी आन्दोलन को ख़तरनाक समझते थे और जिन्होंने इसके दुष्परिणामों की ओर बारम्बार मन्त्रिमंडल का ध्यान आकर्षित किया। ऐसे लोगों की बातों को सुनता कौन था ? उन दिनों तो सनक सवार थी मुस्लिम लीग के साथ समझौते के द्वारा साम्प्रदायिक मसले के निबटारे की। मिस्टर जिन्ना ने देश की और कोई सेवा की हो या न की हो, इतना तो हमें मुक्तकण्ठ से स्वीकार करना ही पड़ेगा कि उन्होंने कांग्रेसवालों की आँखें खोल दीं और यह सिद्ध कर दिखाया कि साम्प्रदायिकता के साथ सौदा करना मुल्क के साथ घोरतम विश्वासघात है। किसी अंश में, और किसी स्थान में साम्प्रदायिकता को प्रश्रय देना राष्ट्रीयता की जड़ को कमज़ोर करना है। ५५ साल से कांग्रेस ने मुसलमानों को ख़ुश करने की नीति

का अनुसरण किया और उनके अनेक झूठे-सच्चे दावे मानती भी चली आई। लेकिन उनकी इन सब कोशिशों का एक ही नतीजा हुआ यानी, ज्यों-ज्यों मुसलमानों की माँगें मंज़ूर होती गईं त्यों-त्यों उनकी जगह पर मुस्लिम नेता दूसरी माँगें पेश करते गये।

यहाँ पर यह कह देना ज़रूरी है कि न सब मुसलमान, और न सब हिन्दू, साम्प्रदायिकता के पोषक हैं। जैसे सब हिन्दू वैसे ही सब मुसलमान राष्ट्रवादी नहीं हैं। कांग्रेस की नाकामयाबी का कारण यही था कि उसने साम्प्रदायिक दृष्टिकोण-वाले हिन्दुओं को तो मैदान से खदेड़ भगाया; लेकिन ऐसे मुसलमानों को उसने अपने जीवन के ५५ वर्षों में बराबर मुँह लगाया। इस दुफसली नीति का जो परिणाम होना था, वही हुआ।

प्रान्त के नेताओं और शासकों को यह समझ लेना चाहिए कि साम्प्रदायिकता के साँप को दूध पिलाने का अर्थ मृत्यु है। इसको पनाह देना, इसके साथ कभी खेलना और कभी इसे कुचल डालने की धमकी दिखाना घातक है और घातक है सबके लिए। साम्प्रदायिक कठमुल्लों को—हिन्दू हों या मुसलमान—देशद्रोही मानकर, उनके साथ तदनुसार व्यवहार करना उचित है। राजद्रोह से भी कहीं ज़्यादा भयंकर अपराध साम्प्रदायिक भेद-भाव का प्रचार है। निर्ममता के साथ इसका दमन करना चाहिए। कहीं पर इसे प्रश्रय न देना चाहिए। इसको समूल नष्ट करने की वैसी ही चेष्टा हमें करनी चाहिए, जैसी चेष्टा हम किसी प्लेग या हैज़े को रोकने की करते हैं। हम राष्ट्रवादी हैं। राष्ट्रवादी होने के नाते हम उन सबका हृदय से स्वागत करने के लिए तैयार हैं जो सच्चे राष्ट्रवादी हैं। लेकिन जो प्रच्छन्न राष्ट्रवादी हैं, जिनके मुँह में तो राष्ट्ररूपी राम रहता है, लेकिन बगल में साम्प्रदायिक छुरी छिपी रहती है, उनके साथ हमारा कैसा मेल, कहाँ का समझौता? वे तो विरोधी हैं और विरोधियों का-सा उनके साथ हमें व्यवहार करना चाहिए। हम एक क़ौम हैं। हमारा एक मुल्क है। एक राष्ट्र के हम अंग हैं, जो अमर है, अजर है, अभिन्न है, अभेद्य है। हमारे मज़हब भले ही जुदा हों, लेकिन बने हम सब एक ही ख़ाक से हैं और हमारी रगों पर अमिट छाप है एक ही मृत्ति की। इस देश में न हिन्दुओं की कोई संस्कृति है, न मुसलमानों की। हमारी संस्कृति भारतीय संस्कृति है जिसे

विभिन्न युगों में विभिन्न महापुरुषों की कृपा से विभिन्न विभूतियाँ मिली हैं। ऊपरी अन्तरों के होते हुए भी हमारे जीवन में व्यापक समानता है। गौण भेदों को प्रधानता देकर सांस्कृतिक भेद की किंवदन्ती फैलानेवाला जितना ही मूर्ख है उतना ही अधिक वह ख़तरनाक भी है।

केवल मज़हबी भेदों के आधार पर हमारे सूबे में अल्पता की समस्या उठ खड़ी हुई है। धर्म में भिन्नता के कारण न तो इँगलैंड और न अमरीका के संयुक्त राष्ट्र में, न चीन और जापान में, न मिस्र में, और न फिलस्तीन में, अल्पसंख्यकों को किसी ने कभी राजनीतिक मामलों में विशेषाधिकारों के देने की माँग पेश की, और न कभी ऐसी राष्ट्रसंहारिणी नीति को अपनाने की किसी को सूझी। ऐतिहासिक घटनाओं की यह भारत को, एक देन है। धार्मिक और शिक्षा-सम्बन्धी मामलों में अल्प-संख्यकों के प्रति उदारता न्यायसंगत है। इतने ही के वे हक़दार हैं। उनके इस परिमित दावे को न स्वीकार करना निंद्य है। लेकिन इससे अधिक माँगना या देना अनुचित है। शिक्षा के क्षेत्र में भी एक बात को हमें सदा ध्यान में रखना चाहिए। उसी शिक्षा-प्रणाली को—साम्प्रदायिक होते हुए भी—एक राष्ट्रवादी प्रोत्साहन दे सकता है जिसका आधार राष्ट्रीय एकता है।

* * *

किसी सम्प्रदाय को सरकारी नौकरियों में विशेष स्थान देना ग़लत है। लेकिन देश की मौजूदा परिस्थिति को देखते हुए हम नौकरियों में साम्प्रदायिक संरक्षण के सिद्धान्त को यदि मानने के लिए विवश हो जायँ, तो हमें इस दिशा में उस सीमा के बाहर कदापि न बढ़ना चाहिए जिसको भारत-सरकार और बंगाल तथा पंजाब की सरकारों ने अपने-अपने क्षेत्रों में निर्धारित कर दिया है। हाँ, हिन्दू और मुसलमान दलितों को सरकारी नौकरियों में अधिकाधिक स्थान दिलाने की नीयत से हमें उन तमाम साधनों का प्रयोग करना चाहिए, जिनके द्वारा आबादी की दृष्टि से उपयुक्त संख्या में इन दोनों दलितों के उम्मीदवार हमें मिल सकें। दलित उस समय तक दलित ही बने रहेंगे जब तक शासन की बागडोर कुलीन हिन्दुओं और नजीब मुसलमानों ही के हाथ में बनी रहेगी। सामाजिक अत्याचार का अन्त तभी सम्भव है जब दलित उचित संख्या में शासकों की गद्दियों पर बैठे हुए हमें दिखाई देंगे।

* * *

तीसरे प्रश्न के सम्बन्ध में निम्नलिखित बातें विचारणीय हैं :—

१—इस सूबे की सरकार को हिन्दी और उर्दू-भाषाओं और फ़ारसी और देवनागरी लिपि को सरकारी लिपियाँ मान लेना चाहिए। सरकारी दफ़्तरों में वे ही लोग नियुक्त किये जायँ, जो दोनों भाषाओं और दोनों लिपियों को समान रूप से जानते और पढ़-लिख सकते हों।

२—स्कूलों में दोनों ही भाषाओं और लिपियों के पढ़ाने का समुचित प्रबन्ध होना चाहिए। लेकिन जो बालक या बालिका जिस भाषा और लिपि द्वारा शिक्षा प्राप्त करना चाहे उसी लिपि और भाषा को सीखने की स्वतन्त्रता उसे पूर्णरूप से प्राप्त होनी चाहिए।

३—हिन्दुस्तानी भाषा के फैलाने की चेष्टा ग़लत है। इसके द्वारा साम्प्रदायिक मनोमालिन्य बढ़ेगा, घट नहीं सकता।

संसार के कई देशों में एक से अधिक भाषाओं को राष्ट्र-भाषा के पद प्राप्त हैं। इसलिए हमें कोई कारण नहीं मालूम होता कि हमारे सूबे में ऐसा क्यों न किया जाय? मुसलमानों को भय है कि बहुसंख्यक उर्दू को ख़त्म कर देना चाहते हैं। उनका यह भ्रम है। हमारे इस प्रस्ताव को स्वीकार करने से उनकी इस भ्रान्ति का निवारण हो जायगा।

* * *

चौथे प्रश्न को लीजिए। जिस सम्प्रदाय का सूबे की आबादी में जितना हिस्सा है, उसी अनुपात में सम्मिलित निर्वाचन द्वारा उस सम्प्रदाय को स्थानीय संस्थाओं में अगले १० वर्ष के लिए सुरक्षित कर दिया जाय। १० वर्ष के बाद इस तरह की क़ैद की कोई ज़रूरत न होनी चाहिए।

* * *

पाँचवाँ प्रश्न सबसे जटिल है। समाज के प्रत्येक व्यक्ति या समूह को अपने धार्मिक कर्तव्य के पालन करने का अधिकार होना चाहिए, बशर्ते कि वे कर्तव्य ऐसे न हों जिनके द्वारा दूसरों को आघात पहुँचे या जो सार्वजनिक हित और धर्म के प्रतिकूल हों, या जिनके कारण शान्ति-भङ्ग की संभावना हो। इस विषय पर हम पीछे काफ़ी लिख चुके हैं।

* * *

छठे प्रश्न के विषय में कुछ अधिक नहीं कहना है। ऊँच-नीच की प्रथा हिन्दुओं में अधिक और मुसलमानों में कम है। लेकिन है दोनों में। इस भावना को मिटाना परमावश्यक है। दलितों के प्रति जो अभी तक सामाजिक अत्याचार होते चले आये हैं, उनके अन्त ही में हम अदलितों का कल्याण है। यह ख़ुशी की बात है कि महात्मा गांधी के अथक परिश्रम से, और कांग्रेस के देशव्यापी आन्दोलन के कारण इस राक्षसी प्रथा का बल दिन पर दिन कम होता जाता है; लेकिन अस्पृश्यता, जब तक क़ानूनन एक दंडनीय अपराध न हो जाय, तब तक इसके मिटने में काफ़ी देर लगेगी। जो आदमी दलितों के साथ समानता का बर्त्ताव न करे, उसे वोट देने का अधिकार न मिलना चाहिए।

* * *

सातवाँ प्रश्न अन्तिम प्रश्न है। हिन्दुओं की तुलना में मुसलमान न तो शिक्षा में पिछड़े हैं और न ग़रीब हैं। इसलिए मुसलमानों को विशेष सुविधाएँ देने की कोई ज़रूरत नहीं है। मक़तब और इस्लामिया स्कूल, या संस्कृत-पाठ-शालाओं द्वारा इम्दाद का देना बन्द हो जाना चाहिए। जिस सम्प्रदाय के लोग निर्धारित पाठ्य-क्रम के साथ धार्मिक शिक्षा का प्रबन्ध करना चाहते हैं, उन्हें शिक्षा-सम्बन्धी सहायता के पाने की जो शर्तें हैं, उन शर्तों को पूरा करने पर सहायता अवश्य दी जाय।

हिन्दुओं और मुसलमानों में ऐसी जातियाँ हैं जो तालीम में पिछड़ी हुई हैं। उनमें शिक्षा-प्रसार की विशेष रूप से कोशिश होनी चाहिए। इस ओर अभी जो कुछ किया गया है, वह नगण्य है।

* * *

अल्पता की समस्या उस समय तक हल न होगी, जब तक प्रान्त में राष्ट्रीय दृष्टिकोण के उत्पन्न करने की ओर विशेष ध्यान न दिया जायगा। जहाँ लाखों आदमी भेद-भाव के ज़हर को फैलाने में रात-दिन दत्तचित्त रहते हैं, वहाँ प्रचार के प्रत्येक साधन से राष्ट्रीयता के भाव के फैलाने की परम आवश्यकता है। रेडियो, अख़बार, स्कूल, इस तरह के कार्य आन्दोलन के प्रधान साधन बन सकते हैं। प्रचार की महिमा अनन्त है। वह असत्य को सत्य बना सकता है। उदाहरण के लिए जर्मनी को ले लीजिए। फिर क्या कारण है कि

इस ओर हमने विशेष रूप से काम नहीं किया, या जो कुछ काम किया उसमें हमको कोई ख़ास सफलता नहीं मिली। माना कि इस ओर बराबर कोशिशें जारी रहीं। यह भी माना कि हमारे मार्ग में अनेक कठिनाइयाँ हैं। लेकिन इसके मानने से भी किसी को इनकार न होना चाहिए कि कांग्रेस तक ने भी इस समस्या को हल करने के लिए किसी चिरकालीन नीति का निर्धारण नहीं किया। वह भी क्षणिक समझौतों के फेर में पड़ी रही। समझौतों से मुक्ति की आशा करना नादानी है। उनसे होनेवाला लाभ कभी चिरस्थायी नहीं हो सकता, जब तक हमारे दृष्टिकोणों में व्यापक अन्तर न हो जाय। हिन्दू-मुस्लिम मेल के राग अलापने से काम नहीं सरेगा। इसके अलावा कांग्रेस ने और क्या किया? ढाई वर्ष तक उसने आठ प्रान्तों में शासन किया। इस समस्या पर हमारे मंत्रियों ने अनेक बार ओजस्वी भाषण दिये। लेकिन उन्होंने अपने किसी काम से इस बात का आभास तक हमें न दिया कि दृष्टिकोण में व्यापक क्रान्ति उत्पन्न करने की नीति के आधार पर वे काम कर रहे हैं। प्रान्तिक कांग्रेस-कमेटी का भी यही हाल है। संगठित प्रयत्न की जहाँ आवश्यकता है, वहाँ कोरी बातों से काम निकालना चाहते हैं। इधर हमारा यह हाल और उधर सूबे की दशा दिन पर दिन बिगड़ती जाती है, और हम सब जब आपस में मिलते हैं तब इसी बिगड़ी हुई दशा पर रोने लगते हैं। इतने ही को हम काफ़ी समझ लेते हैं। हम यह नहीं समझते कि दशा यदि बिगड़ी है, तो इसके लिए हम भी ज़िम्मेदार हैं, या उसके सुधारने का हमारे ऊपर भी दायित्व है। अथवा समस्या पर चौमुखी आक्रमण करने के लिए समुचित नीति के सृजन की आवश्यकता और उसको कार्यरूप में परिणत करने के लिए अचल साहस की ज़रूरत है। जिस अंश में हममें से प्रत्येक इस समस्या को हल करने के लिए अपने को ज़िम्मेदार समझेगा, उसी अंश में इस समस्या का समाधान सम्भव है, अन्यथा नहीं।

जून, १९४०]

किसान और ज़मींदार

१

किसानों की समस्या है क्या? इसको समझने के लिए यह ज़रूरी है कि हम उस समस्या के चारों पहलुओं को अपनी दृष्टि के सामने रखने की सदा चेष्टा करें। किसी पहलू विशेष ही पर ध्यान देने और अन्य पहलुओं को भुला देने से काम न चलेगा। समस्या के चार पहलू हैं—(१) राष्ट्र, (२) प्रान्त और देश की जनता, (३) ज़मींदार और (४) किसान। पराधीन देश में राष्ट्र और जनता के हितों में परस्पर विरोध होना स्वाभाविक है; लेकिन जहाँ स्वराज्य या स्वायत्त-शासन है, अर्थात् जहाँ शासन की बागडोर जनता के प्रतिनिधियों के हाथ में होती है और शासन की नीति को लोकमत निर्धारित और प्रभावित किया करता है, वहाँ जनता और शासकवर्ग के हितों में प्रत्यक्ष विरोध नहीं रह सकता; क्योंकि जनता और राष्ट्र उस दशा में समानार्थी शब्द हो जाते हैं। भारतवर्ष में अभी तक शासन की बागडोर जनता के प्रतिनिधियों के हाथ में न थी; भारत पराधीन था और अँगरेज़ सरकार हुकूमत करती थी। वह भारतीय जनता के सामने अपने कार्यों के लिए जवाबदेह न थी। कहते हैं कि नया शासन-विधान प्रान्तों में स्वराज्य स्थापित कर देगा। इस विषय में गम्भीर मतभेद है। बहुतों का कहना है कि प्रान्तिक स्वराज्य का स्थापन तो दूर रहा, नये विधान से अँगरेज़ी प्रभुता और भी बलशालिनी हो जायगी। दो में से कौन सा मत ठीक है, इसका ज़िक्र करना इस लेख की सीमा के परे है। समय स्वयमेव इस प्रश्न का उत्तर दे देगा। यहाँ पर मैं यही मानकर लिख रहा हूँ कि शासकवर्ग और जनता के हित समान हैं। इस दृष्टि से समस्या के चार पहलू नहीं रह जाते। अतएव उसके केवल तीन ही पहलुओं पर विचार करना होगा। आइए, एक-एक पहलू पर सरसरी तौर से हम नज़र डालें, ताकि समस्या के वास्तविक रूप का हमें कुछ सही-सही अन्दाज़ा लग जाय।

२

इस सम्बन्ध में पहला प्रश्न यह है कि सूबे की ज़मीन का मालिक कौन है? ज़मीन किसान की है या ज़मींदार की अथवा राष्ट्र की? भिन्न-भिन्न देशों में ज़मीन के भिन्न-भिन्न मालिक हैं। इँगलैंड में अधिकांश ज़मीन ज़मींदारों के क़ब्जे में है। फ्रांस आदि देशों में ज़मीन का मालिक ख़ुद किसान है। लेकिन भारतवर्ष में अनादि काल से ज़मीन पर राष्ट्र का क़ब्ज़ा रहा है। खेत की पैदावार का एक अंश राष्ट्र सदा से लेता आया है। यह कर नहीं है, यद्यपि इसे भूल से लोग 'भूमिकर' कहते हैं। कर आमदनी पर लिया जाता है, लेकिन भूमिकर वास्तव में ज़मीन का किराया है। कर और किराये में व्यापक अन्तर है। इसीलिए अँगरेज़ी में 'भूमिकर' को लैंड-टैक्स नहीं कहते; उसे भूमि का रेण्ट या किराया कहते हैं।

काश्तकार खेत को किराये पर जोतने के लिए लेता है। किराये की रक़म समय-समय पर निरन्तर बदलती रही है! जिन शर्तों पर ज़मीन काश्तकार को जोतने के लिए दी जाती है, उनमें भी समय के अनुसार रद्दोबदल होती आई है। लेकिन जहाँ सब कुछ बदल गया, वहाँ राज्य या राष्ट्र का भूमि पर अधिकार अखण्ड बना रहा। समय पलटा, क्रान्तियाँ हुईं, सिंहासन उलटे, कुछ का कुछ हो गया; लेकिन जैसे आर्य-शासन में, वैसे ही मुग़ल या अँगरेज़-शासन में ज़मीन पर राष्ट्र का अधिकार जैसे का तैसा बना रहा। आधुनिक विचारधारा भी इस भारतीय सिद्धान्त का प्रतिपादन करती है। जैसे जङ्गलों और नदियों पर राष्ट्र ही का अधिकार भारत में माना जाता है, वैसे ही भूमि पर भी राष्ट्र ही का अधिकार राजा-प्रजा स्वीकार करती आई है। इसलिए भारत में किसान-ज़मींदार की समस्या पर विचार करते समय हमें इन दो स्वयं-सिद्ध सिद्धान्तों को याद रखना चाहिए—(१) ज़मीन राष्ट्र की है, और किसान राष्ट्र को ज़मीन जोतने के लिए रेंट देता है। ज़मीन का मालिक राष्ट्र है। भूमि पर राष्ट्र के अधिकार का अर्थ है देश की जनता का अधिकार। इस प्रकार किसान सामूहिक रूप से ज़मीन के मालिक कहे जा सकते हैं। इस दृष्टि से मज़दूर, किसान और समाज के अन्य प्राणी भी सामूहिक रूप से ज़मीन के स्वामी हैं। ऐसी दशा में ज़मींदार तो किसी तरह भी 'भूपति' या 'महीपति' नहीं कहे जा

सकते! वे किसानों से ज़मीन का किराया वसूल करनेवाले सरकारी ठेकेदार मात्र हैं!

भारत में सब प्रान्तों में किसानों से खेतों के रेंट को वसूल करने की एक-सी प्रथा नहीं है। कई प्रान्तों में रैयतवारी-प्रथा है। वहाँ किसान ज़मींदार को नहीं, सीधे सरकार को लगान देता है। हमारे सूबे में तथा बिहार और बङ्गाल में रैयतवारी-प्रथा नहीं है। यहाँ ज़मींदारी-प्रथा है। सरकार ख़ुद लगान नहीं लेती। उसके नाम पर ज़मींदार किसान से लगान लेते हैं। लगान वसूल करने का ठेका सरकार ने उनको सौंप दिया है। यह ठेका पुश्तैनी है। दूसरे के हाथ लगान वसूल करने के इस अधिकार को ज़मींदार बेच भी सकता है। जब इस प्रान्त में अँगरेज़ी अमलदारी क़ायम हुई तब लगान का ६० फ़ी सदी सरकार ले लेती थी और ज़मींदारों के पास १० फ़ी सदी रह जाता था। अब सरकार ४० या ५० फ़ी सदी ही से संतुष्ट है और शेष ज़मींदारों की जेब में रह जाता है। लगान का कितना अंश सरकार के पास पहुँचता है और कितना ज़मींदारों को मिलता है, इससे ज़मींदारों की भूमि पर मिलकियत का दावा नहीं सिद्ध होता है; क्योंकि सरकार ने उन्हें ज़मीन नहीं दी, केवल लगान वसूल करने का अधिकार दिया है। म्युनिसिपैल्टियाँ और शहरों के इम्प्रूवमेंट ट्रस्ट लोगों को विशेष शर्तों पर मकान बनाने के लिए ज़मीनें किराये पर दे देते हैं। उन ज़मीनों पर मकान बनवानेवालों से बोर्ड या ट्रस्ट चाहे ख़ुद किराया वसूल कर ले, या उसको वसूल करने का ठेका एक या एक से अधिक आदमियों को दे दे। ठीक यही बात ज़मींदारों के विषय में भी लागू है। ज़मींदार भूमि का स्वामी नहीं है। वह किसानों से लगान वसूल करनेवाला पुश्तैनी ठेकेदार है। यहाँ इतना कह देना आवश्यक है कि ऊपर जो कुछ कहा गया है, वह सिद्धान्तः सही है, यद्यपि ग़दर के बाद ज़मींदारों ने क़ानून के द्वारा अपने अधिकार बहुत कुछ बढ़ा लिये हैं। लेकिन ज़मींदारी-प्रथा का प्रधान लक्षण है किसानों से लगान वसूल करने का अधिकार और मालगुज़ारी अदा करने की ज़िम्मेदारी। लगान का जो अंश सरकार को मालगुज़ारी के रूप में मिलता है, वही वास्तव में खेत का असली किराया है। और लगान का जो अंश ज़मींदार के पास रह जाता है, वह है किसान से सरकारी मालगुज़ारी वसूल करने की उजरत या पारिश्रमिक।

ऊपर जो कुछ कहा गया है, उससे तीन बातें साफ़ हो जाती हैं—

(१) ज़मीन पर सरकार या राष्ट्र का क़ब्ज़ा है।

(२) किसान को सरकार से किराये पर जोतने के लिए ज़मीन मिली है।

(३) ज़मींदार सरकार की ओर से किसानों से खेतों का सरकारी किराया या लगान वसूल करता है।

उपर्युक्त सिद्धान्तों को सूबे के सभी दल नहीं स्वीकार करते। ज़मींदार-दल का दावा है कि ज़मींदार ही ज़मीन का मालिक है। कुछ लोगों का कहना है कि अनादि काल से भारत में ज़मीन पर किसान का अधिकार चला आया है, यद्यपि अँगरेज़ी अमलदारी में किसान के हाथ से यह अधिकार छिन गया। और मैं यह स्वीकार करता हूँ कि तीनों ही मतों के समर्थन में बहुत कुछ कहने की गुञ्जाइश है। लेकिन जिन तीन सिद्धान्तों का ऊपर उल्लेख है, वे ही स्थूल रूप से सही जँचते हैं। यह दूसरी बात है कि सविस्तर निरूपण के बाद उन सिद्धान्तों की व्याख्या में इधर-उधर काट-छाँट करने की ज़रूरत पड़े।

३

अब आइए, किसानों की माली हालत पर एक सरसरी नज़र डालें। सन् १९३१ में सूबे की आबादी ४ करोड़ ८४ लाख थी, जिसमें से ८० फ़ी सदी खेती के आश्रित थी। सन् १९०१ में सूबे की आबादी ४ करोड़ ७३ लाख थी। इस हिसाब से १९०१ से १९३१ तक, अर्थात् ३० साल में, आबादी में ११ लाख की वृद्धि हुई। लेकिन इसी अवधि में खेती पर आश्रित आबादी ६४ फ़ी सदी से बढ़कर ८० फ़ी सदी हो गई। इसका अर्थ यह है कि १९०१ के मुक़ाबिले में १९३१ में ६१ लाख अधिक प्राणियों का ज़मीन पर भार बढ़ गया। जहाँ १९०१ में ३ करोड़ १६ लाख प्राणियों का भरण-पोषण खेती के द्वारा होता था, वहाँ १९३१ में उनकी संख्या ३ करोड़ ७७ लाख हो गई। इसका मुख्य कारण यह है कि अन्य उद्योग-धन्धों में इस तीस साल के अन्दर लगे हुए प्राणियों की तादाद निरन्तर घटती गई। उदाहरण के लिए उद्योग-धन्धे में जहाँ १९०१ में ६२ लाख आदमी लगे थे, वहाँ १९३१ में वे घटकर ५१ लाख ही रह गये।

इस तरह जहाँ पिछले ३० साल में भूमि पर आश्रित प्राणियों की

संख्या १६०१ में ३ करोड़ १६ लाख से बढ़कर १६३१ में ३ करोड़ ७७ लाख हो गई, वहाँ इस अवधि में खेती के रक़बे में कोई विशेष वृद्धि नहीं हुई। जहाँ सन् १६०० में ३ करोड़ ४५ लाख एकड़ जोते-बोये गये थे, वहाँ सन् १६३० में ३ करोड़ ३७ लाख एकड़ की खेती हुई, अर्थात् ८ लाख एकड़ की कमी हुई, यद्यपि १६०१ के देखते हुए १६३१ में दो फ़सली रक़बे में ३ लाख की वृद्धि थी। इस तरह लगभग ५ लाख एकड़ की १६३० में कमी रही। इधर खेती पर आश्रित आबादी में ६१ लाख प्राणियों की वृद्धि, उधर खेती के रक़बे में ५ लाख एकड़ की कमी! खानेवालों की संख्या बढ़ गई, लेकिन पैदावार का रक़बा घट गया! इससे साफ़ ज़ाहिर है कि ३० साल में किसानों की दशा १६०१ को देखते हुए सुधरी नहीं, बहुत कुछ बिगड़ गई।

इतना ही नहीं, दूसरी दिशाओं में भी उनकी माली हालत ख़राब होती गई। सन् १६०१ में—

(१) गन्ने की खेती १२ लाख २३ हज़ार एकड़ में,
(२) कपास की खेती १० लाख ५० हज़ार एकड़ में,
(३) पोस्ता (अफ़ीम) की खेती ३ लाख ६३ हज़ार एकड़ में,
(४) नील की खेती २ लाख ६३ हज़ार एकड़ में,
अथवा कुल २८ लाख ६६ हज़ार
यानी २६ लाख एकड़ में हुई;

लेकिन १६३० में—

(१) गन्ना १३ लाख ४६ हज़ार एकड़ में,
(२) कपास ६ लाख १६ हज़ार एकड़ में,
(३) पोस्ता (अफ़ीम) ४० हज़ार एकड़ में और
(४) नील ५७ हज़ार एकड़ में, अथवा
कुल २३ लाख ६५ हज़ार एकड़ में बोया गया।

ऊपर के आँकड़ों से यह स्पष्ट है कि ३० साल में जहाँ खेती का रक़बा ६१ लाख एकड़ घटा, वहाँ बहुमूल्य जिनसों की पैदावार में ५॥ लाख एकड़ की घटी हुई और इस प्रकार १६०१ के मुक़ाबिले में १६३० में काश्तकारों की आम-

-दनी काफ़ी घट गई। आमदनी में कमी का पता एक और बात से भी चलता है। १९०१ में जहाँ २ करोड़ ४६ लाख एकड़ में गेहूँ, चावल, चना और जौ बोया गया था, वहाँ १९३१ में ये अनाज केवल २ करोड़ २५ लाख एकड़ में बोये गये। यहाँ भी ३१ लाख एकड़ की कमी ३० साल में हो गई। सारांश यह निकलता है कि आबादी बढ़ी, खेती घटी और आमदनी और भी कम हो गई।

यह सब हुआ, परन्तु लगान १९०१ से १९३० तक निरन्तर बढ़ता ही गया। नीचे की तालिका से यह बात स्पष्ट हो जायगी :—

सन्	लगान	आनुपातिक संख्या
१८१६	१२ करोड़ १२ लाख रुपया	...
१९००-०१	१२ करोड़ ७१ लाख ,,	यानी १००
१९२९-३०	१९ करोड़ ४० लाख ,,	यानी १५३

अर्थात् १९०० से १९३० तक लगान में लगभग ७ करोड़ रुपया यानी ५३ फ़ी सदी की वृद्धि हुई। आगरा-प्रान्त में मौरूसी काश्तकारों के लगान में इस अवधि में ३२ सैकड़े और अवध के मौरूसी किसानों के लगान में २० सैकड़े की वृद्धि हुई। ग़ैर-मौरूसी किसानों के लगान में तो अंधाधुन्ध वृद्धि हुई। अवध में ऐसे किसानों का लगान १००) के स्थान में १५५) और आगरे में १००) के बजाय २१८) हो गया। इस बढ़ती का भी कोई ठिकाना है।

४

इसी सिलसिले में आइए, ज़मींदारों की आमदनी और मालगुज़ारी-संबंधी देन का ब्योरा देख लें। सन् १९०१ में ज़मींदारों को किसानों से लगान और सिंचाई की मदों में १२ करोड़ ७१ लाख रुपया पाना था, जिसमें से उन्होंने सरकार को ६ करोड़ २३ लाख रुपया मालगुज़ारी में अदा किया। इस तरह ज़मींदारों को १९०१ में ज़मींदारी से ६॥ करोड़ रुपया के लगभग बचत हुई। सन् १९३१ में लगान और सिंचाई की निकासी १९ करोड़ ४० लाख रुपया और मालगुज़ारी ७ करोड़ ८ लाख रुपया थी, अर्थात् ज़मींदारों को १२ करोड़ ३२ लाख रुपये का मुनाफ़ा हुआ।

दूसरे शब्दों में १९०१-१९३१ की अवधि में लगान में, ६ करोड़ ६९ लाख रुपये की वृद्धि हुई, जिसमें सरकार को केवल ८५ लाख रुपये अधिक मालगुज़ारी में मिले; बाक़ी ५ करोड़ रुपये से अधिक का मुनाफ़ा ज़मींदारों की जेबों में गया। लगान में जो वृद्धि इन ३० सालों की अवधि में हुई, उसके प्रत्येक सौ रुपये में से सरकार को १३) तथा ज़मींदारों को ८७) मिले। वृद्धि का एक हिस्सा राष्ट्र को और ७ हिस्से लगान वसूल करनेवाले ज़मींदारों को प्राप्त हुए। जहाँ लगान में ५३ फ़ी सदी की वृद्धि हुई, वहाँ मालगुज़ारी में केवल १३ फ़ी सदी का इज़ाफ़ा हुआ! स्पष्ट है कि किसान की कमाई का पूरा-पूरा लाभ केवल ज़मींदार उठाते हैं। बालाई-बालाई वे ले जाते हैं, महज़ छाछ से राष्ट्र और किसान को सन्तोष करना पड़ता है। यह सब उचित समझा जाता है, क्योंकि क़ानून से ऐसा होना जायज़ क़रार दे दिया गया है। किसान भूखा मरे तो मरे, उसके पास तन ढँकने को कपड़ा हो या न हो, इसकी क़ानून को क्या परवाह? सन्तोष की बात केवल इतनी ही है कि जो क़ानून बना सकता है, वही उसे रद या बदल भी सकता है, और सम्भव है कि आज का न्याय कल का अन्याय माना जाने लगे।

५

१९०१ से १९३० तक लगान में वृद्धि हुई। जैसा ऊपर कहा गया है, १९०१ में लगान १२ करोड़ ७१ लाख रुपया से बढ़कर १९३० में १९ करोड़ ४० लाख रुपया हो गया।

१९००-०१ में लगान की रक़म १२ करोड़ ७ लाख रुपया थी। सन् १९१४-१५ में वह १५ करोड़ ९३ लाख हो गई, अर्थात् १९००-०१ से १९१४-१५ तक की १४ साल की अवधि में उसमें ३ करोड़ २२ लाख रुपया की वृद्धि हुई। १९१४-१५ से १९३० तक में वह १९ करोड़ ४० लाख रुपया हो गई, अथवा १९१५ और १९३० के बीच में ३ करोड़ ४७ लाख रुपया की वृद्धि हुई। इस शताब्दी के प्रथम १५ साल में लगान में जहाँ ३ करोड़ २२ लाख रुपया की वृद्धि हुई, वहाँ पिछले १५ साल (यानी १९१५ से १९३० तक) में उसमें ३ करोड़ ४७ लाख रुपया का इज़ाफ़ा हुआ।

इसका क्या कारण था? आबादी में वृद्धि और अनाज के भाव का

चढ़ते जाना—इन दो कारणों से ज़मीन की माँग बढ़ने लगी और ज़मीन के लिए बढ़ी हुई माँग से लाभ उठाते हुए ज़मींदार लगान में इज़ाफ़ा करते गये। अनाज का औसत भाव सन् १८६६-१६०० में २ रुपया १२ आना मन था। वही सन् १६११-१५ में ३ रुपया ५ आने और १६१६-२८ में ४ रुपया १२ आने हो गया। उसके बाद १६२८-३० में भाव तेज़ी से गिरने लगा। मई १६३१ में अनाज का औसत भाव फ़ी मन २ रुपया ३ आने था। कहाँ १६२८ का ४ रुपया १२ आने मन और कहाँ १६३१ का २ रुपया ३ आने मन! १६३१ में भाव के क्रांतिकारी गिरने का पूरा-पूरा अंदाज़ा हमें तब लगता है, जब हम यह देखते हैं कि जितना अनाज हमें १६२० में ६ रुपये में मिलता था, उतने ही अनाज के लिए हमें सन् १६२८-२६ में ५ रुपया ६ आना ७ पाई देना पड़ता था। लेकिन सन् १६३०-३१ में उसका दाम २ रुपया ३ आने ३ पाई हो गया। इतना तो सस्ता ग़ल्ला बरसों से नहीं हुआ था। १८६१-६५ में ग़ल्ले का लगभग वही भाव था, जो १६३०-३१ में था। गत वर्ष सरकार ने एक गुप्त पत्र कुछ ज़मींदारों के पास भेजा था। उसमें सरकार ने यह स्वीकार किया है कि सन् १६३०-३१ में अनाज का जो भाव था, वही १६३५ तक प्रायः बना रहा। पिछले ५-६ साल से अनाज का वही भाव चला आता है जो सन् १८६१-६५ में था। नीचे की तालिका से पिछले ४० साल में भाव के चढ़ाव-उतार का पता पाठक को आसानी से लग जायगा। तालिका के आँकड़े इस आधार पर तैयार किये गये हैं कि जितने अनाज के लिए १८७३ में १००) देना पड़ता था, उतने ही अनाज का दाम—

सन् १८६१-६५ में १२८), सन् १६०१-५ में १३६), सन् १६११-१५ में २६४), सन् १६२१-२५ में २६४), सन् १६२६-२८ में ३००) और सन् १६३०-३१ में १२८) हो गया।

अनाज के भाव में इस आकस्मिक और अंधाधुन्ध उतार से किसान एकदम बरबाद हो गया। इस सस्ती के कारण सन् १६३१ से सरकार ने लगान में ४ करोड़ १२ लाख की छूट मंजूर की। यह काफ़ी है या नहीं, इसका निर्णय करना कुछ कठिन नहीं है। सन् १८६६-१६०० में अनाज का औसत भाव २ रुपया १२ आने मन था। सन् १६००-१६०१ में लगान की सालाना रक़म १२ करोड़ ७१ लाख रुपया थी, जिसको किसान अपनी पैदावार में से ४ करोड़ ६२ लाख मन

ग़ल्ला बेचकर अदा कर सकता था। सन् १९११-१५ में ग़ल्ले का औसत भाव ४ रुपया ५ आने मन और सन् १९१५ का लगान १५ करोड़ ६३ लाख रुपया था। इसकी अदायगी के लिए ४ करोड़ ८१ लाख मन अनाज काफ़ी था। लेकिन सन् १९३०-३१ में भाव के गिरने के कारण १९ करोड़ ४० लाख रुपया के लगान को अदा करने के लिए किसान को ८ करोड़ ८१ लाख मन अनाज बेचना पड़ता। सन् १९३१ से लगान में ४ करोड़ १२ लाख रुपये की छूट किसान को मिली। इसलिए उसका लगान घटकर १५ करोड़ ३२ लाख रुपया रह गया। और इस घटे हुए लगान को अदा करने के लिए भी किसान को अनाज की ३१-३५ वाली दर के हिसाब से ६ करोड़ ६६ लाख मन ग़ल्ला निकालना चाहिए। भाव यद्यपि आज दिन वही है जो १९०१ में था, यद्यपि तब से अब आबादी बढ़ गई है और भूमि पर अधिकतर प्राणी आश्रित हैं और यद्यपि अब १९०१ के मुक़ाबिले में कम ज़मीन भी जोती जाती है, तथापि किसान को आज लगान अदा करने के लिए १९०१ की तुलना में २ करोड़ ३४ लाख मन अधिक ग़ल्ला निकालना पड़ेगा। इसीलिए हम कहते हैं कि लगान में सरकारी छूट नाकाफ़ी है। यही कारण है कि किसान साल-ब-साल अपना पूरा-पूरा लगान नहीं अदा कर पाता और बक़ाया लगान का भूत उसके सिर पर नाचा करता है। १९२०-३० के आँकड़े यदि देखे जायँ, तो पता लगेगा कि सालाना लगान की रक़म का सिर्फ़ ६३ फ़ी सदी साल में वसूल हो सका और बक़ाया लगान की मद में १८½ फ़ी सदी अदायगी हुई। दोनों मदों की वसूलयाबी सालाना लगान की ८४ फ़ी सैकड़ा ठहरती है। लगान की दर इतनी चढ़ी-बढ़ी है कि किसान पेट काटकर भी साल का लगान साल में नहीं अदा कर सकता। यह मेरा ही कहना नहीं है, सर गैबिन जोन्स और डाक्टर हिंगिन बाटम ने भी यह स्वीकार किया है कि पैदावार का उचित अंश किसान को नहीं मिलता। सन् १९३१ की मर्दुमशुमारी (यू० पी०) के सुपरिंटेंडेंट मिस्टर टरनर की भी राय है कि किसानों की बहुत बड़ी संख्या की दशा ख़राब है। यही कारण है कि वह क़र्ज़ के बोझ से दब रहा है। उस पर करोड़ों का ऋण है और सूद देते-देते उसकी बधिया बैठ गई है। लगान और क़र्ज़—इन दो के भारी बोझ से उसकी कमर टूट गई है।

६

लगान ही का अकेले यदि रोना होता तो भी ग़नीमत थी। किसान की मुसीबतें यहीं तक सीमित नहीं हैं। उस पर तरह-तरह के प्रतिबन्ध लगे हुए हैं। वह पेड़ नहीं लगा सकता, कुआँ नहीं बना सकता, मकान के लिए तालाब से मिट्टी नहीं ले सकता, घर नहीं बनवा सकता, गाँव के गली-कूचों में चल नहीं सकता, अपने मकान के सामने गाय-बैल नहीं बाँध सकता—जब तक उसे ज़मींदार की आज्ञा न प्राप्त हो। देहात में किसान की दशा अर्द्ध-दासता की दशा है। बीसवीं सदी में स्वतंत्र होते हुए दूसरे के विक्षेप पर उसे नाचना पड़ता है। इस सबके होते हुए उसे ग़ैर-क़ानूनी नज़राने देकर ज़मींदार आदि ग्रहों को शान्त रखने की निरन्तर चेष्टा भी करनी पड़ती है। बेदख़ली का भय उसे हर घड़ी सताया करता है। साम्पत्तिक ग़ुलामी के जो कुछ परिणाम सम्भव हो सकते हैं, उनको कोई भी सहृदय व्यक्ति आज दिन हमरे देहातों में देख सकता है। अतएव किसान की समस्या का अर्थ है उसे उसकी लूटी गई आज़ादी का वापस दिलाना, उसके बन्धनों को तोड़ना, जो उसके जीवन को तहस-नहस करने में सहायक सिद्ध हो रहे हैं, उसे पेट भर खाने और तन ढकने के लिए कपड़े दिलाना, उसकी गाढ़ी कमाई का उचित अंश अपने जीवन-निर्वाह के लिए ख़र्च करने का अधिकार दिलाना। साँड़ों और बीजों के द्वारा जो देहाती जीवन के पुनरुत्थान का स्वप्न देख रहे हैं, वे या तो किसानों की समस्या को समझते नहीं या समझते हुए अपने को इतना निर्बल मान बैठे हैं कि वास्तविक समस्या को हल करने की उन्हें हिम्मत नहीं पड़ती।

(१) किसान की समस्या तभी हल होगी जब किसान को मौरूसी हक़ मिले।

(२) पेड़ लगवाने, कुआँ खोदाने आदि का उसे स्वतन्त्र अधिकार प्राप्त हो।

(३) देहात की सड़कों, तालाबों और आबादियों पर ज़मींदार का नहीं, किन्तु पंचायत का अधिकार रहे।

(४) लगान घटाया और पैदावार के अंश के रूप में वसूल किया जाय।

(५) बक़ाया लगान माफ़ कर दिया जाय।

(६) क़र्ज़ का बोझ हलका कर दिया जाय।

(७) गुप्त वोट देने की प्रथा जारी की जाय।

ऊपरी छः सुधार संभव नहीं हैं, जब तक किसान अपने प्रतिनिधियों के चुनने में आज़ादी से वोट नहीं दे सकता। यह तभी होगा जब वह गुप्त वोट दे सके। लेकिन सूबे की सरकार इसका विरोध करती है। ऐसी दशा में वोट कहने को तो किसान का होगा, परन्तु वास्तव में वह होगा ज़मींदार का वोट। और ज़मींदार कब चाहेंगे कि किसान उनके चंगुल से निकल जाय ?

७

ज़मींदारों की समस्या व्यक्तियों की समस्या नहीं है। लोग ज़मींदारी का प्रायः विरोध इस कारण करते हैं कि उनमें से कुछ किसानों को बेतरह तंग किया करते हैं। व्यक्तिगत भलाई या बुराई की वजह से किसी संस्था-विशेष के मूलोच्छेद की माँग सार्थक नहीं मानी जा सकती। इससे तो सुधार और नियन्त्रण ही की आवश्यकता सिद्ध होगी। किसी संस्था का विरोध तभी सफल होगा, जब वह संस्था अनावश्यक और—इससे अधिक महत्त्व की बात यह है—राष्ट्र और समाज के लिए हानिकारक प्रमाणित हो जाय। इसी दृष्टि से कांग्रेस में आज दिन अनेक प्रभावशाली दल हैं, जो ज़मींदारी-प्रथा का अन्त कर देना चाहते हैं; कुछ माविज़ा देकर और कुछ बिला माविज़ा दिये। ज़मींदारी का अन्त हो—इस एक बात पर दोनों का मतैक्य है। कैसे वह अंत किया जाय—इसमें केवल मतभेद है। पहला सिद्धान्त का प्रश्न है, और दूसरा अंत करने के ढङ्ग का। लेकिन जो माविज़ा देकर ज़मींदारी का अन्त करना चाहते हैं, उन्होंने माविज़ा-सम्बन्धी अनेक प्रश्नों का अभी तक कोई उत्तर नहीं दिया और न माविज़ा की कोई योजना ही देश के सामने आज तक रक्खी। महज़ माविज़ा-माविज़ा चिल्लाने से लोकमत उनके अनुकूल नहीं हो सकता। किस हिसाब से माविज़ दिया जायगा ? रुपया कहाँ से आयेगा ? किसान पर माविज़ा की रक़म अदा करने के कारण कितना अधिक भार बढ़ जायगा ? ऐसे अनेक प्रश्न उठते हैं, लेकिन उत्तर एक का भी अभी तक नहीं मिला। मैं भी यह मानता हूँ कि यदि माविज़े की कोई मुनासिब तदबीर निकल आये, तो ज़मींदारों को माविज़ा देने में कोई हर्ज़ नहीं है। क्या ऐसी

योजना निकल सकती है? इस सम्बन्ध में मैं यहाँ इतना ही कहूँगा कि यदि ज़मींदारी की प्रथा का अंत वैधानिक रूप से होना संभव है, तो यह आवश्यक है कि ज़मींदार, किसान और समाज के अन्य वर्गों के हितों को समभाव से तोलकर ही इसकी योजना बननी चाहिए। तभी लोकमत उसका समर्थन करेगा। लेकिन बहुतों की राय में यह प्रश्न भविष्य का प्रश्न है। उनका कहना है कि आज दिन ज़मींदारी-प्रथा के अंत करने का सवाल उठाना इतना आवश्यक नहीं है, जितना आवश्यक है उस प्रथा के सुधार का। शर्त यह है कि सुधार व्यापक और वास्तविक हो। इस पक्ष के समर्थन में जो दलील दी जाती है, वह यह है कि किसान के लिए यह गौण बात है कि वह लगान किसे देता—ज़मींदार को या सरकारी अहलकार को। उसके लिए प्रधान प्रश्न यह है कि उसे कितना लगान देना पड़ेगा। यह मानना पड़ेगा कि ज़मींदारी की प्रथा का सुधार किसान की दृष्टि से आवश्यक है। क़ानून से ज़मींदारों ने वे अनेक अधिकार अपना लिये हैं, जो पहले पंचायती अधिकार माने जाते थे। ज़मींदार शुरू में लगान वसूल कर मालगुज़ारी अदा करने का ठेकेदार था। यदि वही स्थिति उसकी अब हो जाय जो पहले थी, तो ज़मींदारी के क़ायम रहते हुए भी किसान अर्द्धदासता की दशा से निकलकर समाज का स्वतंत्र नागरिक बन सकता है। इसीलिए कुछ लोगों की दृष्टि में ज़मींदारी-प्रथा के सुधार का मसला परमावश्यक है—उसके अस्तित्व के सवाल पर आगे चलकर विचार किया जा सकता है, यदि उस समय के लोग उस पर विचार करना उचित समझें।

ज़मींदारी की मौजूदा प्रथा सब दृष्टियों से दोषपूर्ण है। उसका कोई बिरला ही समर्थक मिलेगा। ज़मींदारों में भी ऐसे लोगों की कमी नहीं है, जो इस प्रथा में व्यापक सुधार की आवश्यकता को अंगीकार करते हैं। इसका सबसे बड़ा दोष यही है कि यह आर्थिक दृष्टि से सर्वथा त्याज्य है। ज़मींदार किसान से कुछ कम १६॥ करोड़ रुपये लगान के रूप में वसूल करता है। इसमें से सरकारी खज़ाने में ७ करोड़ रुपये से कुछ अधिक मालगुज़ारी के नाम से जमा हो जाता है। बाक़ी १२॥ करोड़ रुपया ज़मींदारों के पास रह जाता है। इसका क्या अर्थ है? इसका अर्थ यह है कि ७ करोड़ रुपया के राजस्व को वसूल करने के पारिश्रमिक के रूप में ज़मींदार १२॥ करोड़ रुपया लेता है। ७ करोड़ रुपये की वसूलयाबी

का पारिश्रमिक १२॥ करोड़ रुपया, अर्थात् १००) की वसूलयाबी के लिए राष्ट्र ठेकेदार को १६४) की उजरत देता है! कुछ अंधेर का ठिकाना है! यदि किसान को केवल राजस्व ही देना होता, तो उसे कुल ७ करोड़ रुपया देना पड़ता। ज़मींदारी-प्रथा में उसे राष्ट्र को ७ करोड़ और ज़मींदारों को इस ७ करोड़ के अलावा १२॥ करोड़ और देना पड़ता है। पहले ज़मींदारों को ज़मींदारी की आमदनी का ६० फ़ी सदी सरकार को देना पड़ता था, अब केवल ४० फ़ी सदी देना पड़ता है। इससे राष्ट्रीय ख़ज़ाने को भी हानि पहुँचती और किसान भी मारा जाता है। और ज़मींदार अपने कारिन्दे को १००) के लगान को वसूल करने के लिए ६६७) देगा? लगान का घटाना जितना ज़रूरी है, उतना ही ज़रूरत है ज़मींदारों के पारिश्रमिक की दर को कम करने की। इस अवसर पर ऊपर कही हुई एक बात को दोहरा देना अनावश्यक न होगा। १६०१ से १६३१ तक लगान में ६ करोड़ ४७ लाख रुपया का इज़ाफ़ा हुआ, लेकिन राष्ट्र को इस परिवर्द्धित अंश में से केवल ८५ लाख रुपये मालगुज़ारी में इज़ाफ़े के रूप में प्राप्त हुए, अर्थात् लगान में जो वृद्धि हुई उसमें से ज़मींदार को ८७ और सरकार को १३ प्रतिशत हाथ लगा। साम्पत्तिक अनर्थ की हद होती है, लेकिन ज़मींदारी की मौजूदा प्रणाली इस सीमा को भी पार कर गई है! किसान और समाज की उन्नति के मार्ग में यह एक भयङ्कर बाधा साबित हो रही है। बेकारी और दरिद्रता का यही मूल कारण है। लगान के भारी बोझ से किसान की रीढ़ टूट गई और धनाभाव के कारण प्रांत की प्रगति मारी गई। इसीलिए कोई-कोई ज़मींदारों का मख़ौल उड़ाने की नीयत से कहते हैं—"पाँचों अँगुलियाँ यदि घी में हैं तो ज़मींदारों की। उन्हीं की पौ बारह है। 'अजगर करै न चाकरी।' क्यों करें, जब तक क़ानून उन्हें दूसरों की कमाई का अधिकांश भोग लगाने के लिए मिलता जाता है?"

८

ऊपर की बातों को पढ़कर पाठकों को ज़मींदारों और उनकी माली हालत के संबंध में भ्रम हो सकता है। न सब ज़मींदार गुलछर्रे उड़ाया करते हैं और न किसानों पर अत्याचार ही कर सकते हैं। इस सूबे में २२ लाख के लगभग

योजना निकल सकती है ? इस सम्बन्ध में मैं यहाँ इतना ही कहूँगा कि यदि ज़मींदारी की प्रथा का अंत वैधानिक रूप से होना संभव है, तो यह आवश्यक है कि ज़मींदार, किसान और समाज के अन्य वर्गों के हितों को समभाव से तोलकर ही इसकी योजना बननी चाहिए। तभी लोकमत उसका समर्थन करेगा। लेकिन बहुतों की राय में यह प्रश्न भविष्य का प्रश्न है। उनका कहना है कि आज दिन ज़मींदारी-प्रथा के अंत करने का सवाल उठाना इतना आवश्यक नहीं है, जितना आवश्यक है उस प्रथा के सुधार का। शर्त यह है कि सुधार व्यापक और वास्तविक हो। इस पक्ष के समर्थन में जो दलील दी जाती है, वह यह है कि किसान के लिए यह गौण बात है कि वह लगान किसे देता—ज़मींदार को या सरकारी अहलकार को। उसके लिए प्रधान प्रश्न यह है कि उसे कितना लगान देना पड़ेगा। यह मानना पड़ेगा कि ज़मींदारी की प्रथा का सुधार किसान की दृष्टि से आवश्यक है। क़ानून से ज़मींदारों ने वे अनेक अधिकार अपना लिये हैं, जो पहले पंचायती अधिकार माने जाते थे। ज़मींदार शुरू में लगान वसूल कर मालगुज़ारी अदा करने का ठेकेदार था। यदि वही स्थिति उसकी अब हो जाय जो पहले थी, तो ज़मींदारी के क़ायम रहते हुए भी किसान अर्द्धदासता की दशा से निकलकर समाज का स्वतंत्र नागरिक बन सकता है। इसीलिए कुछ लोगों की दृष्टि में ज़मींदारी-प्रथा के सुधार का मसला परमावश्यक है—उसके अस्तित्व के सवाल पर आगे चलकर विचार किया जा सकता है, यदि उस समय के लोग उस पर विचार करना उचित समझें।

ज़मींदारी की मौजूदा प्रथा सब दृष्टियों से दोषपूर्ण है। उसका कोई विरला ही समर्थक मिलेगा। ज़मींदारों में भी ऐसे लोगों की कमी नहीं है, जो इस प्रथा में व्यापक सुधार की आवश्यकता को अंगीकार करते हैं। इसका सबसे बड़ा दोष यही है कि यह आर्थिक दृष्टि से सर्वथा त्याज्य है। ज़मींदार किसान से कुछ कम १६॥ करोड़ रुपये लगान के रूप में वसूल करता है। इसमें से सरकारी खज़ाने में ७ करोड़ रुपये से कुछ अधिक मालगुज़ारी के नाम से जमा हो जाता है। बाक़ी १२॥ करोड़ रुपया ज़मींदारों के पास रह जाता है। इसका क्या अर्थ है ? इसका अर्थ यह है कि ७ करोड़ रुपया के राजस्व को वसूल करने के पारिश्रमिक के रूप में ज़मींदार १२॥ करोड़ रुपया लेता है। ७ करोड़ रुपये की वसूलयाबी

का पारिश्रमिक १२॥ करोड़ रुपया, अर्थात् १००) की वसूलयाबी के लिए राष्ट्र ठेकेदार को १६४) की उजरत देता है! कुछ अंधेर का ठिकाना है! यदि किसान को केवल राजस्व ही देना होता, तो उसे कुल ७ करोड़ रुपया देना पड़ता। ज़मींदारी-प्रथा में उसे राष्ट्र को ७ करोड़ और ज़मींदारों को इस ७ करोड़ के अलावा १२॥ करोड़ और देना पड़ता है। पहले ज़मींदारों को ज़मींदारी की आमदनी का ६० फ़ी सदी सरकार को देना पड़ता था, अब केवल ४० फ़ी सदी देना पड़ता है। इससे राष्ट्रीय ख़ज़ाने को भी हानि पहुँचती और किसान भी मारा जाता है। और ज़मींदार अपने कारिन्दे को १००) के लगान को वसूल करने के लिए ६६७) देगा? लगान का घटाना जितना ज़रूरी है, उतना ही ज़रूरत है ज़मींदारों के पारिश्रमिक की दर को कम करने की। इस अवसर पर ऊपर कही हुई एक बात को दोहरा देना अनावश्यक न होगा। १६०१ से १६३१ तक लगान में ६ करोड़ ४७ लाख रुपया का इज़ाफ़ा हुआ, लेकिन राष्ट्र को इस परिवर्द्धित अंश में से केवल ८५ लाख रुपये मालगुज़ारी में इज़ाफ़े के रूप में प्राप्त हुए, अर्थात् लगान में जो वृद्धि हुई उसमें से ज़मींदार को ८७ और सरकार को १३ प्रतिशत हाथ लगा। साम्पत्तिक अनर्थ की हद होती है, लेकिन ज़मींदारी की मौजूदा प्रणाली इस सीमा को भी पार कर गई है! किसान और समाज की उन्नति के मार्ग में यह एक भयङ्कर बाधा साबित हो रही है। बेकारी और दरिद्रता का यही मूल कारण है। लगान के भारी बोझ से किसान की रीढ़ टूट गई और धनाभाव के कारण प्रांत की प्रगति मारी गई। इसीलिए कोई-कोई ज़मींदारों का मख़ौल उड़ाने की नीयत से कहते हैं—"पाँचों अँगुलियाँ यदि घी में हैं तो ज़मींदारों की। उन्हीं की पौ बारह है। 'अजगर करै न चाकरी।' क्यों करें, जब तक क़ानूनन उन्हें दूसरों की कमाई का अधिकांश भोग लगाने के लिए मिलता जाता है?"

८

ऊपर की बातों को पढ़कर पाठकों को ज़मींदारों और उनकी माली हालत के संबंध में भ्रम हो सकता है। न सब ज़मींदार गुलछर्रे उड़ाया करते हैं और न किसानों पर अत्याचार ही कर सकते हैं। इस सूबे में २२ लाख के लगभग

ज़मींदार हैं, जिनमें से ४ लाख कमायूँ में ख़ुदकाश्त करते हैं। शेष १८ लाख में से १२ लाख १ रुपया से कम की मालगुज़ारी देते हैं। इसलिए ये तो नामचार ही के ज़मींदार हैं। १ रुपया से ९९ रुपया तक की मालगुज़ारी अदा करनेवाले ज़मींदारों की संख्या कुछ कम ४½ लाख है। १०० रुपया या उससे अधिक माल-गुज़ारी अदा करनेवाले ज़मींदार संख्या में १ लाख ६२ हज़ार हैं, जिनमें से १,१०० ज़मींदार ५,०००) या उससे अधिक तथा २०३ ज़मींदार २०,०००) या उससे अधिक की मालगुज़री अदा करते हैं। इन आँकड़ों से सिद्ध है कि अधिकांश ज़मीं-दार समान हैं। अतएव किसान-ज़मींदार-संबंधी समस्या में उन्हें किसान ही मानना चाहिए और वास्तव में वे हैं भी तो किसान ही। केवल १ लाख ६० हज़ार ज़मीं-दारों का गुज़ारा मुख्यतया ज़मींदारी की आमदनी से होता है। ऐसी दशा में यही कहना उचित होगा कि अधिकांश ज़मींदारों की माली हालत किसानों की दशा के समान है। इस संबंध में यह भी बता देना ज़रूरी है कि ज़मींदारों पर लगभग ९० करोड़ रुपया का क़र्ज़ है। सूद चुकाने के बाद उनके पास क्या बच रहता है, यह कहना कठिन है। सीर और ख़ुदकाश्त से उन्हें अवश्य मदद मिलती है। लेकिन अपनी मुफ़लिसी से विवश होकर और ठाट-बाट बनाये रखने की ग़लत नीयत से वे किसानों को नोंचने-खसोटने के लिए मज़बूर हैं।